76-77
संयुक्तांक
मई-अगस्त, 2018

पुस्तक-वार्ता

ISSN 2349-1809

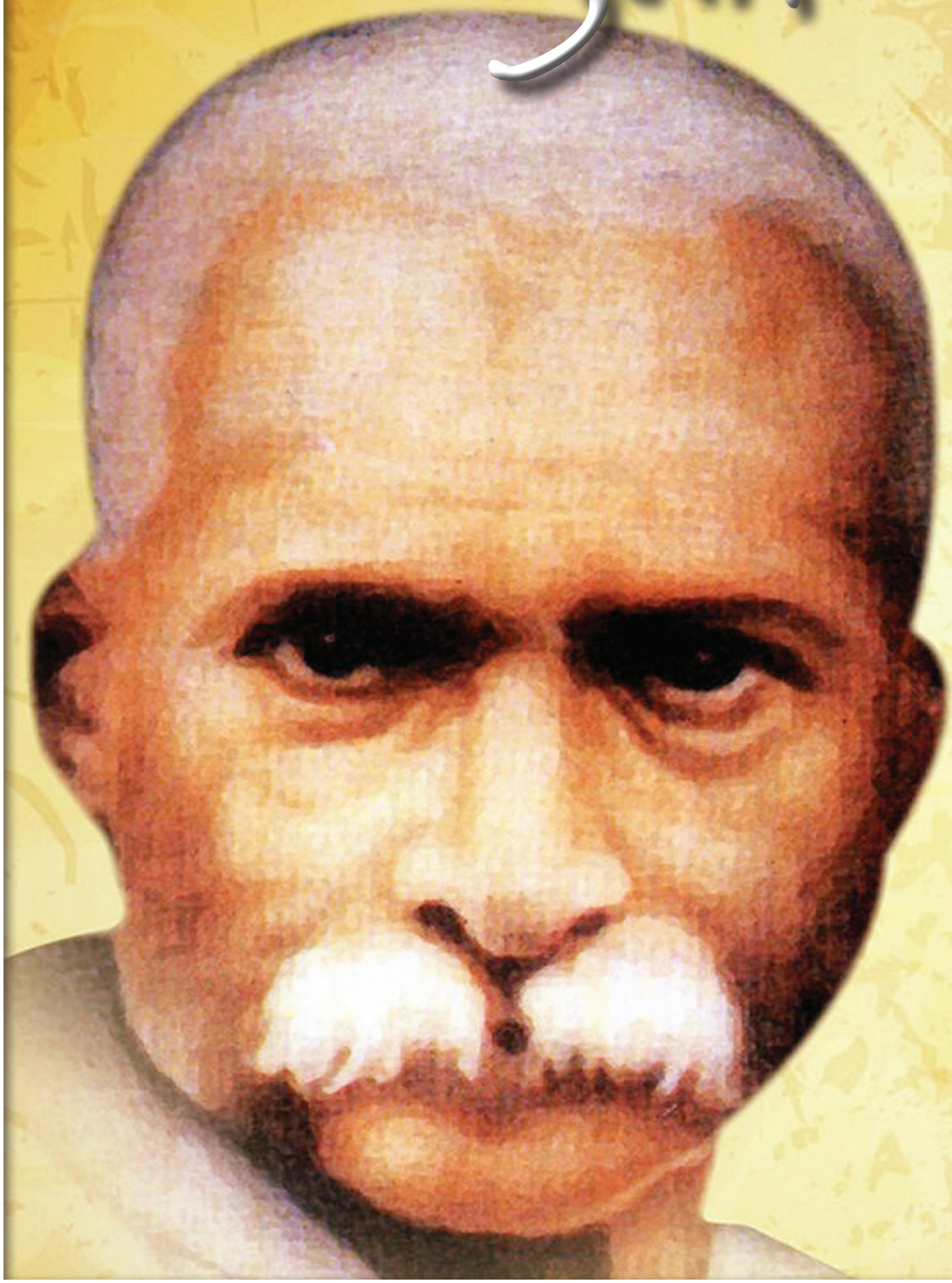

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

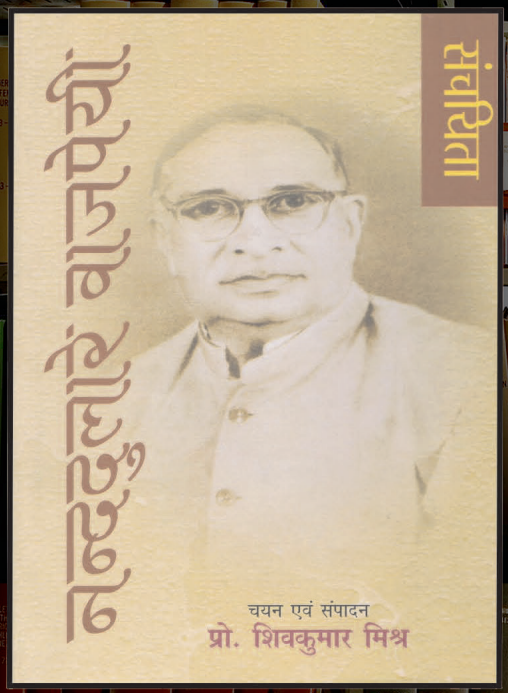

मूल्य : 1500

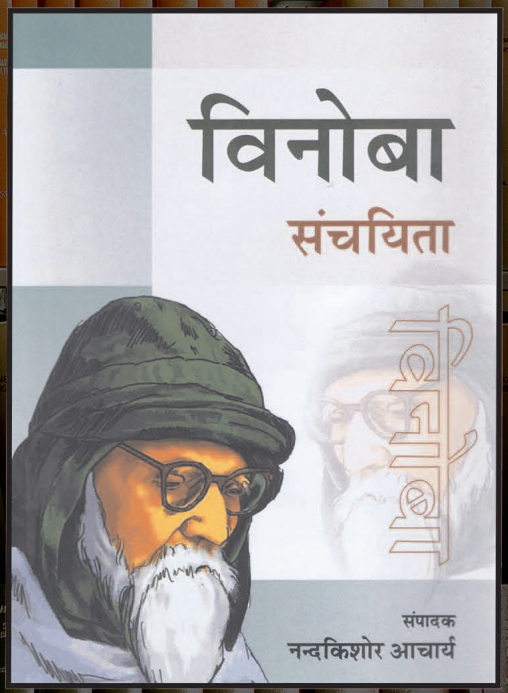

मूल्य : 900

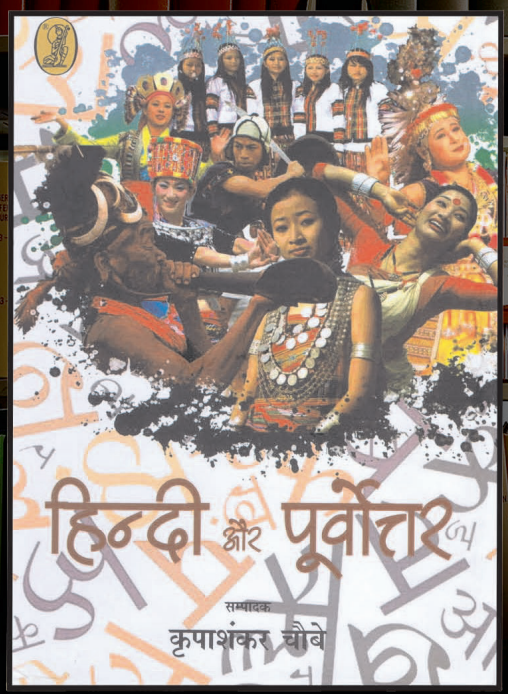

मूल्य : 495

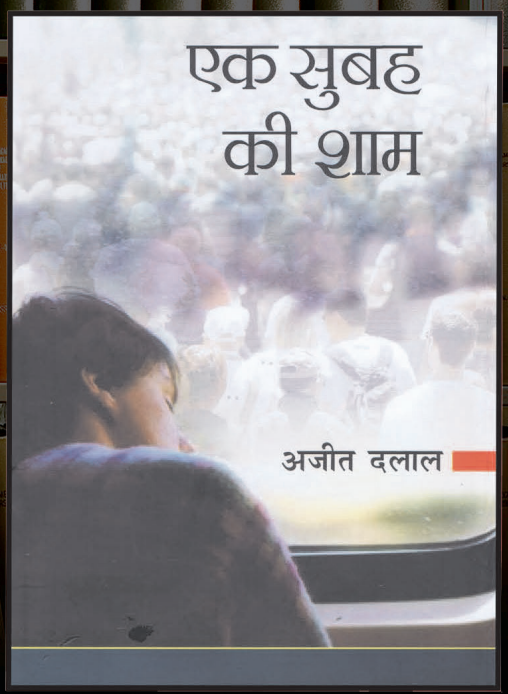

मूल्य : 225

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

पुस्तक-वार्ता

ISSN 2349-1809

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

अंक: 76-77 (संयुक्तांक) मई-अगस्त, 2018

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (कुलपति)

संपादक
अशोक मिश्र

सह-संपादक
अमित कुमार विश्वास

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क
संपादक: पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र),
मो. संपा. 7888048765, सह-संपा. 9970244359
ई-मेल: amitbishwas2004@gmail.com

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक: ₹ 50/-
वार्षिक सदस्यता:
₹ 300/- (व्यक्तिगत),
₹ 370/- (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)
(नोट: केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगे। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें-
राजेश यादव, प्रकाशन प्रभारी, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र), फोन: 07152-232943

PUSTAK-VARTA

A Bimonthly journal of Book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post - Hindi Vishwavidyalaya, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

डिजाइन
ज्योत्स्ना पलसुलेदेसाई

मुद्रण : क्विक ऑफसेट, दिल्ली - 110032

इस बार

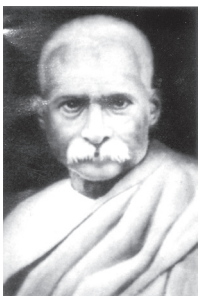

कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे

कर्मयोगी पंडित माधवराव सप्रे भारतीय नवजागरण के पुरोधा संपादक-साहित्यकार हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के ओज और तेज का हिंदी जगत में संचार करने का महती कार्य सप्रेजी ने किया। प्रखर संपादक के रूप में उनकी भूमिका लोक प्रहरी की है और सुधी साहित्यकार के रूप में लोक शिक्षक की है। कोशकार और अनुवादक के रूप में उन्होंने हिंदी भाषा को समृद्ध किया है।

कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे/ विजयदत्त श्रीधर 06
एक बहुमूल्य दस्तावेज/ रमेशचंद्र शाह 12
यथार्थ के नायक: पांच भक्त कवि/ खगेंद्र ठाकुर 14
कथा का सौंदर्यशास्त्र और भोपाल/ बलराम 17
अनुभवों का विराट दरिया/ प्रेमपाल शर्मा 20
संघर्ष की व्यथा कथा/ सुशीला टाकभौरे 22
'जादुई यथार्थवाद' का गल्प/ सत्यकेतु सांकृत 25
हिंदोस्तानी तहजीब का बेशकीमती आख्यान/ हुस्न तबस्सुम 'निहां' 27
संवैधानिक आयामों की वैचारिकी/ जय सिंह 30
प्रवासी साहित्य का अनुशीलन/ सूरज प्रकाश 33
बाजारवाद पर एक आधुनिक क्लासिक/ प्रभु जोशी 36
यात्रा वृतांत से सांस्कृतिक आलोचना की यात्रा/ ज्योति चावला 41
अतीत से वर्तमान तक चहलकदमी करती कहानियां/ प्रतापराव कदम 44
दलित कविता की वैचारिकी/ प्रेम प्रभाकर 46
संघर्ष और संवेदना की कहानियां/ रामयतन यादव 49
मानवीय संवेदनाओं का विसृत कोलाज/ मधु सक्सेना 50
पेशेवर महिलाएं: बदलती पीढ़ी की अभिव्यक्ति/ शरद जायसवाल 52
वक्त के 'कैंसर' का 'हिसाब-किताब' करती कहानियां/ राहुल शर्मा 54
आशा का संचार/ एस.कुमार 56
बहुजन साहित्य के उभरते स्वर/ मोहनदास नैमिशराय 58
'सभ्यों के खिलाफ बौद्धिक उलगुलान/ प्रमोद मीणा 61
काल के कैनवस पर लोक चेतना की कूची/ महेश कटारे 63
माटी के कवि त्रिलोचन का स्मरण/ अशोक नाथ त्रिपाठी 65

आवरण पृष्ठ: माधवराव सप्रे

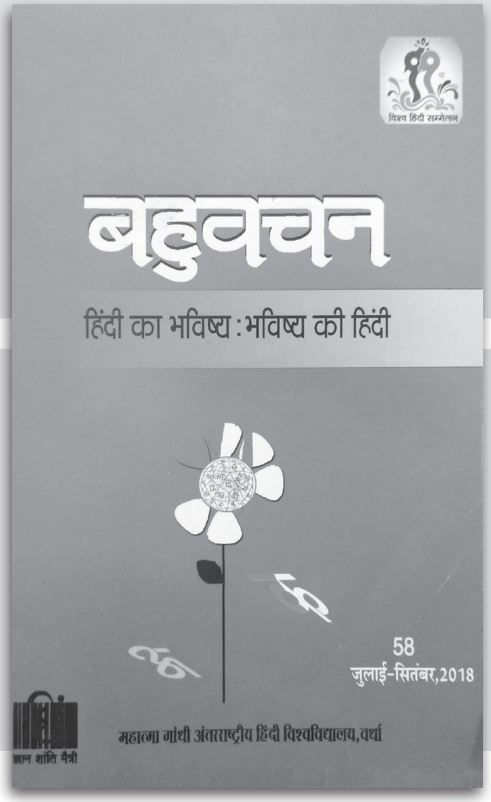

बहुवचन : मराठी साहित्य विशेषांक

अंक के रचनाकार

विरासत	:	कुसुमाग्रज, विंदा करंदीकर, नारायण सुर्वे, दिलीप चित्रे आदि
विशेष	:	भालचंद्र नेमाडे
साक्षात्कार	:	वसंत आबाजी डहाके, नागनाथ कोतापल्ले
लेख	:	सूर्यनारायण रणसुभे, निशिकांत ठकार, रणधीर शिंदे, आशुतोष पोद्दार, रामचंद्र कालुंखे, संजय आर्वीकर-हृषीकेश आर्वीकर, रवींद्र किबदुने, भानु काले, नीलिमा गुंडी, संदीप सपकाले आदि
कहानियां	:	भारत ससाणे, सदानंद देशमुख, आसाराम लोमटे, मेघना पेठे, मोनिका गजेंद्रगड़कर, मधुकर धर्मापुरीकर, प्रतिभा जोशी आदि।
नाटक	:	महेश एलकुंचवार
कविताएं	:	ना.धों. महानोर, यशवंत मनोहर, वसंत आबाजी डहाके, प्रभा गाणेरकर, चंद्रकांत पाटील, नारायण कुलकर्णी, सतीश कालसेकर, श्रीकांत देशमुख, मल्लिका अमरशेख, मनोहर जाधव, शरण कुमार लिंबाले, अशोक कोतवाल, अरुण काले, अनुराधा पाटील, गणेश विसपुते, दासू वैद्य, सायमन मार्टिन, प्रफुल्ल शिलेदार, आसावरी काकड़े, नागनाथ मंजुले, विजय चोरमारे, मंगेश नारायण काले, मनोज बोरगांवकर, बाजाजी महदन इंगले, अनिल साबले, बालाजी सुतार, सारिका उबाले, लोकनाथ यशवंत, शशिकांत हिंगोनेकर, अरुण शंवते, संजीवनी तलेगांवकर आदि। साथ ही, अन्य विविध सामग्री।
प्रधान संपादक	:	गिरीश्वर मिश्र
संपादक	:	अशोक मिश्र
अतिथि संपादक	:	दामोदर खड़से

माधवराव सप्रे की हिंदी को देन

पुस्तक वार्ता का नया अंक हिंदी के उदभट विद्वान माधवराव सप्रे को समर्पित है। सप्रे ने हिंदीतरभाषी होते हुए भी हिंदी को न सिर्फ अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया बल्कि आजीवन हिंदी भाषा और साहित्य के लिए समर्पित रहे। सप्रेजी को आज हिंदी का साहित्यिक समाज हिंदी के उच्चकोटि के कवि, श्रेष्ठ संपादक, प्रखर चिंतक और अप्रतिम वक्ता के रूप में स्मरण करता है। हिंदी अपनी भाषा यात्रा में आज जिस मुकाम पर खड़ी है अगर हम उसकी अतीत की यात्रा पर गौर करें तो हमें खुले मन से स्वीकार करना होगा कि उसे प्रतिष्ठा दिलाने में महाराष्ट्र के अनन्य हिंदी प्रेमियों और माधवराव सप्रे का बहुत बड़ा योगदान है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

माधव राव सप्रे ने 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'हिंदी केसरी', जैसे पत्रों का संपादन कर पत्रकारिता और संपादन में श्रेष्ठता की मिसाल कायम की। इस अंक में हिंदी के इस मनीषी का स्मरण किया है सुप्रसिद्ध लेखक पत्रकार और माधवराव सप्रे संग्रहालय भोपाल के संचालक विजय दत्त श्रीधर ने। श्रीधर ने 'कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे' शीर्षक अपने लेख में उनकी हिंदी सेवाओं का बहुत ही विस्तार से उल्लेख किया है कि किस प्रकार उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से पत्रकारिता की ज्योति जलाकर समाज को साहित्य से इतर वैश्विक स्तर की विविधतापूर्ण सामग्री परोसी जिससे हिंदी में नई राहों का निर्माण हुआ। हम कह सकते हैं कि वे इस बात के प्रबल पक्षधर थे कि हिंदी में ओजस्वी लेखन होना चाहिए तभी हिंदी भाषा का प्रचार प्रसार होगा और वह सम्मान की हकदार होगी। सप्रे के चिंतनपरक लेखों को पढ़कर कोई भी व्यक्ति महसूस कर सकता है कि उनके अध्ययन का दायरा बड़ा ही विस्तृत था। उन्होंने भारतीय संस्कृति के साथ-साथ यूरोपीय और अमेरिकी देशों के समाजों का भी अध्ययन किया और तर्क के साथ लेखों में अपनी बात कही। वे भारत में सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक जागरूकता के पक्षधर थे। उन्होंने इस दिशा में 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्र के माध्यम से हिंदी में समालोचना विधा को प्रतिष्ठित किया। सप्रेजी ने 'छत्तीसगढ़ मित्र' के जरिए पाठकों को जागरूक बनाने का भी महत्वपूर्ण काम किया। माधव राव सप्रे ने हिंदी में छह कहानियां लिखीं जिसमें हिंदी की आरंभिक कहानियों में एक टोकरी भर मिट्टी का अनन्य स्थान है। इसी कड़ी में साहित्य अकादेमी से प्रकाशित और विजयदत्त श्रीधर संपादित रचना संचयन पर वरिष्ठ कथाकार रमेशचंद्र शाह की महत्वपूर्ण मूल्यांकन टिप्पणी भी दी जा रही है। बारहवें विश्व हिंदी सम्मेलन मारीशस की शुरूआत से ठीक दो दिन पहले भारत के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी नहीं रहे। अटलजी भारतीय राजनीति के एक ऐसे ईमानदार सिद्धांतवादी प्रधानमंत्री थे जिन्होंने एक वोट के लिए सरकार गिर जाने दी लेकिन किसी किस्म की जोड़-तोड़ नहीं की। वे राजनीति में मूल्यों के पक्षधर थे। वे प्रखर वक्ता थे। एक समय देश में उनके भाषण सुनने के लिए जन समुदाय उमड़ पड़ता था। वे मन से कवि थे। उनके तीन कविता संग्रह 'मेरी इक्यावन कविताएं', 'अमर आग है' और 'कैदी कविराय की कुंडलियां' शीर्षक से प्रकाशित हुए । उनकी कविताओं में पीड़ा और राजनीति की विसंगतियों पर कड़ा प्रहार था जिसने उनको कवि की ख्याति दी। अटल जी की एक प्रसिद्ध कविता के साथ उनको हार्दिक श्रद्धांजलि--

क्षमा करो बापू! तुम हमको,
बचन भंग के हम अपराधी,
राजघाट को किया अपावन,
मंजिल भूले, यात्रा आधी।

जयप्रकाश जी! रखो भरोसा,
टूटे सपनों को जोड़ेंगे।
चिताभस्म की चिंगारी से,
अंधकार के गढ़ तोड़ेंगे।

अंक में पूर्व की भांति कविता, कहानी, आलोचना और अन्य सामाजिक विमर्शों से संबंधित पुस्तकों की मूल्यांकनपरक समीक्षाएं दी जा रही हैं। 'पुस्तक वार्ता' का उद्देश्य ही हिंदी में प्रकाशित हो रही पुस्तकों का समुचित मूल्यांकन और पाठकों तक उसकी जानकारी को पहुंचाना है। यह अंक कैसा लगा, यह पत्र लिखकर, एसएमएस संदेश से या ईमेल भेजकर अवगत कराएं। आपके सझावों व प्रतिक्रियाओं का इंतजार रहेगा।

अरुण मित्र

स्मरण

कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे

विजयदत्त श्रीधर

मीडिया चिंतक

संपर्क :
संस्थापक-संयोजक
माधवराव सप्रे स्मृति
समाचारपत्र
संग्रहालय एवं शोध संस्थान,
भोपाल

कर्मयोगी पंडित माधवराव सप्रे भारतीय नवजागरण के पुरोधा संपादक-साहित्यकार हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के ओज और तेज का हिंदी जगत में संचार करने का महती कार्य सप्रेजी ने किया। प्रखर संपादक के रूप में उनकी भूमिका लोक प्रहरी की है और सुधी साहित्यकार के रूप में लोक शिक्षक की है। कोशकार और अनुवादक के रूप में उन्होंने हिंदी भाषा को समृद्ध किया है। पंडित माधवराव सप्रे का एक महत्वपूर्ण अवदान ऐसी प्रतिभाओं की परख और उनका प्रोन्नयन है जिन्हें वे राष्ट्रीय कार्य के लिए उपयुक्त पाते थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के लिए राजनीतिक कार्यकर्ता, हिंदी की सेवा और साधना के लिए सुधी साहित्यकार तथा जन जागरण के लिए प्रखर पत्रकार तैयार किए। कवि-चिंतक-संपादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी, कवि-संपादक-इतिहासविद् पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र, नाटककार-हिंदी सेवी सेठ गोविंद दास, सुधी संपादक लक्ष्मीधर वाजपेयी, साहित्यकार-पत्रकार मावली प्रसाद श्रीवास्तव जैसी विभूतियों का लोक व्यक्तित्व सप्रेजी की ही निर्मितियां हैं।

भरतपुर हिंदी संपादक सम्मेलन (1927) के अध्यक्षीय उद्‌बोधन में कर्मवीर संपादक माखनलाल चतुर्वेदी ने सटीक मूल्यांकन किया है-''आज के हिंदी भाषा के युग को पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्मित तथा तेज को पंडित माधवराव सप्रे द्वारा निर्मित कहना चाहिए। यह सेवाएं सब सज्जनों की हैं किंतु संपादकीय व्यवस्था, विचार प्रवाह और भाषा शैली के रूप में वर्तमान युग को द्विवेदीजी और सप्रेजी का ही युग कहना होगा।''

पंडित माधवराव सप्रे निम्न-मध्यम वर्गीय परिवार के सदस्य थे। परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए उन्होंने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। कानून की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी। परिवार के भरण-पोषण के लिए नौकरी करना उनकी आवश्यकता थी। दो बार उन्हें अच्छे पदों के प्रस्ताव मिले भी, परंतु सप्रेजी को फिरंगी सरकार की नौकरी स्वीकार नहीं थी। पेंड्रा के राजकुमार का शिक्षक बनना उन्हें उचित लगा। वेतन 50 रुपए मासिक था। जब उनके पास कुछ धनराशि इकट्ठी हो गई तब पंडित माधवराव सप्रे ने अपनी रुचि और रुझान के कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया। जनवरी 1900 में पेंड्रा से मासिक पत्र 'छत्तीसगढ़ मित्र' का संपादन-प्रकाशन किया। वामन बलीराम लाखे और रामराव चिंचोलकर उनके सहयोगी थे।

'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रवेशांक में 'आत्म परिचय' शीर्षक से सप्रेजी ने अपने मंतव्य और उद्देश्य की घोषणा की - (एक) इसमें कुछ संदेह नहीं कि सुसंपादित पत्रों द्वारा हिंदी भाषा की उन्नति हुई है। अतएव यहां भी 'छत्तीसगढ़ मित्र' हिंदी भाषा की उन्नति करने में विशेष प्रकार से ध्यान देवे। आजकल भाषा में बहुत सा कूड़ा कर्कट जमा हो रहा है, वह न होने पाए इसलिए प्रकाशित ग्रंथों पर प्रसिद्ध मार्मिक विद्वानों के द्वारा समालोचना भी करे। (दो) अन्यान्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद कर सर्वोपयोगी विषयों का संग्रह करना आवश्यक है। इस हेतु से पदार्थ विज्ञान, रसायन, गणित, अर्थशास्त्र, मानसिक शास्त्र, नीति शास्त्र, आरोग्य शास्त्र इत्यादिनेक शास्त्रीय विषय और प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषों के जीवन चरित्र, मनोरंजक कथानक, आख्यान, आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुषों के पढ़ने योग्य हितावह उपन्यास आदि लाभदायक विषय आंग्ल, महाराष्ट्र, गुर्जर, बंगदेशीय तथा संस्कृत आदि ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी के प्रेमियों को अर्पण करने का हमारा विचार है। (तीन) छत्तीसगढ़ के गरीब विद्यार्थियों को उच्च प्रकार की शिक्षा मिले और इस विभाग में विद्या का प्रसार होकर उद्योग की वृद्धि होवे, इस निमित्त 'छत्तीसगढ़ मित्र' के छपाई वगैरह का खर्च निकाल कर जो कुछ प्राप्ति बचेगी उसमें से स्कॉलरशिप देने का प्रबंध किया जाएगा।'' उपर्युक्त उद्देश्यों से स्पष्ट होता है कि सप्रेजी ने किन महान लक्ष्यों के लिए अपना जीवन समर्पित किया था।

'भारत मित्र' ने 11 जून, 1900 के अंक में सम्मति लिखी-''इस पत्र के संपादक एक महाराष्ट्र हैं तथापि हिंदी बहुत शुद्ध लिखते हैं। लेख भी बहुत अच्छे होते हैं।'' वास्तव में पंडित माधवराव सप्रे उस ज्योतिर्मयी आकाशगंगा के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं जिसमें बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मण नारायण गद्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती, सिद्धनाथ माधव आगरकर प्रभृति विद्वज्जन सितारों की भांति चमके। इन हिंदीतर कलमकारों की यशस्वी सेवाओं की हिंदी बड़ी ऋणी है। ऐसा ऋण जिसे उठाए रखने में हमारा गौरव है।

'छत्तीसगढ़ मित्र' तीन वर्ष ही जीवित रह सका तथापि हिंदी पत्रकारिता को संस्कारित करने में सप्रेजी की आधारभूत भूमिका चिरस्मरणीय है। 'छत्तीसगढ़ मित्र' का संपादन करते समय सप्रेजी ने अनुभव किया कि जब तक हिंदी में तेजस्वी-ओजस्वी साहित्य की रचना नहीं होगी और उसका प्रसार नहीं होगा तब तक जन जागरण नहीं होगा। देश प्रेम का भाव प्रबल नहीं होगा। देशोत्थान के लिए जन चेतना का ज्वार नहीं उमड़ेगा। सन 1905 में नागपुर को उन्होंने कार्यक्षेत्र बनाया। हिंदी ग्रंथ प्रकाशन मंडली की स्थापना की। सन 1906 में मासिक 'हिंदी ग्रंथ माला' का प्रकाशन आरंभ किया। पहले ही वर्ष आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के ग्रंथ 'स्वाधीनता' और 'शिक्षा' का प्रकाशन यहां से किया गया।

सन 1906 में डॉ. वासुदेवराव लिमये के आग्रह पर पंडित माधवराव सप्रे ने 'स्वदेशी आंदोलन और बायकाट अर्थात भारत की उन्नति का एकमात्र उपाय' शीर्षक लंबा निबंध लिखा। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के 'केसरी' में स्वदेशी आंदोलन के संबंध में प्रकाशित लेखमाला के आधार पर इसे लिखा गया था। इसमें अनुवाद, भावानुवाद और मौलिक लेखन-तीनों का सहारा लिया गया। इस लेख का हिंदी पाठकों पर गहरा असर हुआ। डॉ. लिमये ने इसे देशसेवक प्रेस से पुस्तकाकार छपवाया। इसकी 8000 प्रतियां छपीं जो उस समय की दृष्टि से उल्लेखनीय

"पंडित माधवराव सप्रे निम्न-मध्यम वर्गीय परिवार के सदस्य थे। परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए उन्होंने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। कानून की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी। परिवार के भरण-पोषण के लिए नौकरी करना उनकी आवश्यकता थी। दो बार उन्हें अच्छे पदों के प्रस्ताव मिले भी, परंतु सप्रेजी को फिरंगी सरकार की नौकरी स्वीकार नहीं थी। पेंड्रा के राजकुमार का शिक्षक बनना उन्हें उचित लगा। वेतन 50 रुपए मासिक था। जब उनके पास कुछ धनराशि इकट्ठी हो गई तब पंडित माधवराव सप्रे ने अपनी रुचि और रुझान के कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया। जनवरी 1900 में पेंड्रा से मासिक पत्र 'छत्तीसगढ़ मित्र' का संपादन-प्रकाशन किया।''

आंकड़ा है। पुस्तक में ही प्रकाशक ने इसी पुस्तक की विषय वस्तु के आधार पर विद्यार्थियों के लिए निबंध प्रतियोगिता की घोषणा की। इस आयोजना ने हिंदी क्षेत्र में जन जागरण का विस्तार किया। यहीं से सप्रेजी फिरंगी हुकूमत की आंख की किरकिरी बनने लगे।

13 अप्रैल, 1907 को पंडित माधवराव सप्रे ने नागपुर से साप्ताहिक 'हिंदी केसरी' का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया। सप्रेजी, तिलक महाराज की विचार धारा के अनुयायी थे। वे मराठी साप्ताहिक 'केसरी' के नियमित पाठक थे। हिंदी पाठकों के लिए देशभक्ति से ओतप्रोत ऐसे ही ओजस्वी पत्र की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हो रही थी। 'हिंदीकेसरी' का प्रकाशन इसी आवश्यकता की पूर्ति का निर्भीक और गंभीर उपक्रम था। 'हिंदीकेसरी' में काला पानी, देश का दुर्दैव, बांब गोले का रहस्य जैसे लेखों का प्रकाशन हुआ। संपादकीय टिप्पणियां भी सरकार के दमन चक्र पर प्रहार करने वाली होती थीं। अंततः सप्रेजी को राजद्रोह के आरोप में भारतीय दंड संहिता की धारा 124 (अ) के तहत गिरफ्तार कर लिया गया। सप्रेजी के अनन्य सहयोगी पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'हिंदीकेसरी' का संपादन-प्रकाशन जारी रखा परंतु सन 1908 का अंत आते-आते केसरी और ग्रंथमाला - दोनों का भी अंत हो गया।

हिरासत में सप्रेजी का स्वास्थ्य खराब रहने लगा। उनके मंझले भाई बाबूराव की तबीयत भी ठीक नहीं रहती थी जिनके ऊपर पूरे परिवार के भरण-पोषण का दायित्व था। वे सरकारी नौकरी में थे। घर की दशा बहुत खराब थी। सप्रेजी के कुछ मित्रों ने उनके भाई बाबूराव के दबाव में माफीनामा लिख कर रिहा होने का प्रस्ताव रखा। यह सप्रेजी को स्वीकार नहीं था परंतु बाबूराव की आत्महत्या की धमकी के कारण सप्रेजी को माफीनामे पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश होना पड़ा। यद्यपि वे जानते थे कि उनके सार्वजनिक जीवन का सत्यानाश हो जाएगा। सप्रेजी के परिवार को तो उनकी रिहाई से राहत मिल गई, लेकिन वे स्वयं को माफ नहीं कर पाए। उन्होंने कठोर प्रायश्चित किया। शांति और भावी मार्ग की तलाश में वे वर्धा के निकट हनुमानगढ़ में गुरुवर पं. श्रीधर विष्णु परांजपे के आश्रम में गए। गुरु-आज्ञा से सप्रेजी ने तेरह माह एकांतवास में बिताए। मधुकरी वृत्ति अपनाई। पगड़ी, जूते-चप्पल तक का परित्याग कर दिया। मन की पवित्रता के लिए साधु का जीवन व्यतीत किया। कालांतर में वे रायपुर लौटे और रामदासीमठ की स्थापना की। आध्यात्मिक अध्यवसाय और भजन-प्रवचन करके समय बिताने लगे। गुरुवर पं. श्रीधर विष्णु परांजपे के परामर्श से सप्रेजी ने श्रीसमर्थ स्वामी रामदास कृत 'दासबोध' ग्रंथ का गहन पारायण किया। सन् 1910 में उन्होंने दासबोध का हिंदी में अनुवाद किया, जो सन् 1913 में प्रकाशित हुआ। उन्हें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कृत 'गीता रहस्य' के अनुवाद का दायित्व सौंपा गया। सन् 1915 में उन्होंने 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' का अनुवाद-कार्य पूरा कर लिया। इसका प्रकाशन सन् 1916 में हुआ। 'गीता रहस्य' के 24 संस्करण अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं जो सप्रेजी के श्रेष्ठ अनुवाद कर्म की लोकप्रियता का प्रमाण हैं।

लगभग आठ वर्षों के एकांतवास के पश्चात पंडित माधवराव सप्रे, नवंबर 1916 में, हिंदीसाहित्य सम्मेलन के जबलपुर अधिवेशन में सार्वजनिक रूप से सामने आए। उन्होंने एक प्रस्ताव भी रखा- ''भारत वर्ष में शिक्षा प्रसार और विद्या की उन्नति के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा हो।'' इसी सम्मेलन में सेठ गोविंददास का परिचय सप्रेजी से हुआ। वे जीवन पर्यंत सप्रेजी के शिष्यवत रहे। सन् 1919 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन में सप्रेजी ने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव का समर्थन किया। यह प्रस्ताव था-''इस सम्मेलन की सम्मति में इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के लिए देश में कम से कम एक ऐसी संस्था स्थापित की जाएं जहां लेखकगण आजीवन साहित्य सेवा के लिए रखे जाए जिनके द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों पर उत्तमोत्तम ग्रंथ निर्माण किए जाएं।'' इस प्रस्ताव की तत्काल प्रतिक्रिया हुई और सेठ गोविंददास ने जबलपुर में अपना शारदा भवन 'राष्ट्रीय हिंदी मंदिर' बनाने के लिए समर्पित कर दिया और कार्यारंभ करने के लिए 2500 रुपए देने की घोषणा की। मंदिर के संचालन का दायित्व सप्रेजी को सौंपा गया। मासिक पत्रिका 'श्रीशारदा' का प्रकाशन इसी संस्था से मार्च 1920 में आरंभ हुआ। श्री नर्मदा प्रसाद मिश्र पत्रिका के आद्य संपादक हुए, पश्चात पं. द्वारका प्रसाद मिश्र ने यह दायित्व निभाया।

पं. विष्णुदत्त शुक्ल की पहल पर जब जबलपुर से स्वातंत्र्य चेतना की वाणी बनने के लिए 'कर्मवीर' साप्ताहिक के प्रकाशन की योजना बनी तब सप्रेजी ने उसका पुरजोर साथ दिया। एकांतवास में ही उन्होंने किन्हीं भी अनुष्ठानों में नाम नहीं देने का संकल्प ले लिया था, इसलिए वे 'कर्मवीर' का संपादक बनने के लिए राजी नहीं हुए। उन्हीं की सलाह पर पं. माखनलाल चतुर्वेदी को कर्मवीर का संपादक बनाया गया। यहां यह उल्लेख भी उचित होगा कि सप्रेजी की प्रेरणा से माखनलाल जी ने सरकारी अध्यापकी त्याग कर 'प्रभा' का संपादन-दायित्व सन् 1913 में ग्रहण किया था। कालांतर में वे हिंदी के उच्चकोटि के कवि, श्रेष्ठ संपादक, प्रखर चिंतक, अप्रतिम वक्ता और स्वतंत्रता सेनानी के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कोई गुरु अपने शिष्य से इससे ज्यादा आशा और अपेक्षा क्या कर सकता है? सन् 1922 में 'कर्मवीर' का प्रकाशन बंद हो गया। माखनलालजी जेल से छूटे तो 'प्रताप' का संपादन दायित्व संभालने के लिए कानपुर जाना पड़ा, क्योंकि तब गणेश शंकर विद्यार्थी जेल चले गए

थे। सप्रेजी और विद्यार्थीजी के आग्रह पर 4 अप्रैल 1925 को खंडवा से 'कर्मवीर' का पुनः प्रकाशन हुआ। पहले इस पर पं. विष्णुदत्त शुक्ल की स्मृति लिखा होता था, अप्रैल 1926 के बाद 'पं. विष्णु दत्त शुक्ल और पं. माधवराव सप्रे की स्मृति' छपने लगा।

निबंध

हिंदी साहित्य के विद्वानों ने पंडित माधवराव सप्रे को उच्चकोटि का निबंधकार माना है। आचार्य रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के अनुसार सप्रेजी के निबंधों में सामाजिक और राजनीतिक विषयों के समावेश के साथ ही सुबोधता, सुगमता और शैली में निष्कपट हार्दिकता होती थी। सरस्वती, प्रभा, अभ्युदय, विद्यार्थी, मर्यादा, श्री शारदा, ज्ञानशक्ति में उनके अनेक निबंध प्रकाशित हुए। वे जिस विषय पर लिखते थे उसका मनन करते थे और पाठकों के लिए उपयोगी बनाने पर ध्यान देते थे। भाषा और शैली ऐसी होती थी कि सामान्य पाठक भी विषय को ठीक से समझ सकें। हिंदी, अंग्रेजी, मराठी और संस्कृत भाषाओं का उनका अध्ययन गहरा था। इसीलिए वे अपनी बात को पुरअसर बनाने के लिए इन भाषाओं के ग्रंथों के उद्धरण देते थे। श्लोक और मुहावरों से लेख को परिपुष्ट किया करते थे। उनका संदर्भ पुस्तकालय बहुत समृद्ध रहा होगा, तभी उनका लेखन सर्वोत्कृष्ट हुआ करता था। सकल ज्ञान की कालजयी पत्रिका 'सरस्वती' और संपादन-कला के आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के वे समादृत लेखक थे। 'सरस्वती' के हीरक जयंती विशेषांक में सन 1900 से 1959 तक साठ वर्षों की सर्वोत्कृष्ट रचनाएं संजोई गई हैं। इनमें 108 कवियों, 60 कहानीकारों और 100 लेखकों की रचनाएं शामिल हैं। विशेषांक के लेख खंड में पंडित माधवराव सप्रे, बी.ए. का 'पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं में विभिन्नता तथा स्वदेशी साहित्य का महत्व' शीर्षक लेख सम्मिलित किया गया है। यह मूलतः सरस्वती के फरवरी, 1918 अंक में प्रकाशित हुआ था।

सप्रेजी ने बीसियों निबंध शिक्षा, विद्यार्थियों और अध्यापकों को ध्यान में रख कर लिखे। इनमें अध्ययन, मनन, स्वास्थ्य, चरित्र, आदर्श नागरिक, मितव्ययिता, इत्यादि तत्वों को प्रेरक और मार्मिक ढंग से समझाया गया है। शिक्षा विषयक क्षेत्र के वे सर्वप्रिय निबंधकार थे इसीलिए पत्रिकाएं उनसे आग्रहपूर्वक लेख लिखवाया करती हैं। 'विद्यार्थी' पत्रिका में उनके 20 निबंधों की लेखमाला जून 1915 से जनवरी 1918 तक प्रकाशित हुई है। इस लेखमाला की लोकप्रियता और मांग के कारण 'विद्यार्थी' के प्रकाशक रामजी लाल शर्मा ने हिंदी प्रेस प्रयाग से संवत 1981 (सन 1924) में इन निबंधों की, 'जीवन संग्राम में विजय प्राप्ति के कुछ उपाय' शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित की।

पंडित माधवराव सप्रे ने अनेक निबंध आर्थिक विषयों पर लिखे। इनमें व्यापार नीति, औद्योगिक प्रशिक्षण, उद्योग-वाणिज्य, किसानों की शिक्षा, हड़ताल, जनता की दरिद्रता, भौतिक प्रभुता का फल, जापान की उन्नति का मूल कारण जैसे विषय शामिल हैं। उस काल की पत्रिकाएं ऐसे थोथे बहाने नहीं तलाशती थीं कि पाठक क्या पढ़ना चाहते हैं, क्या

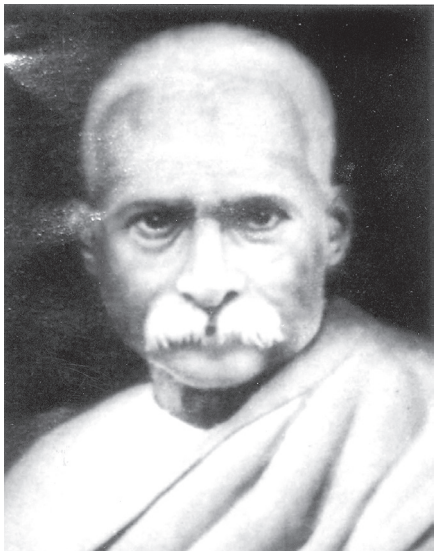

हिंदी साहित्य के विद्वानों ने पंडित माधवराव सप्रे को उच्चकोटि का निबंधकार माना है। आचार्य रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के अनुसार सप्रेजी के निबंधों में सामाजिक और राजनीतिक विषयों के समावेश के साथ ही सुबोधता, सुगमता और शैली में निष्कपट हार्दिकता होती थी। सरस्वती, प्रभा, अभ्युदय, विद्यार्थी, मयार्दा, श्री शारदा, ज्ञानशक्ति में उनके अनेक निबंध प्रकाशित हुए।

नहीं? बल्कि संपादक का चिंतन यह होता था कि पाठकों को क्या जानना चाहिए। पाठकों की मानसिक तैयारी की दृष्टि से संपादक विषयों का चयन और प्रकाशन करते थे। उनके लिए सुपात्र लेखकों का चयन करते थे।

सप्रेजी ने हमारे सामाजिक ह्रास के कुछ कारणों का विचार, यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें, राष्ट्रीयता की हानि का कारण, भारत की एक राष्ट्रीयता, हमारी सहायता कौन करेगा, राष्ट्रीय जागृति की मीमांसा इत्यादि प्रखर वैचारिक निबंध लिख कर भारतीय जन मानस को उद्वेलित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। 'स्वदेशी-आंदोलन और बायकाट' निबंध और उसके हिंदीजन-मानस पर पड़े व्यापक प्रभाव की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इंग्लैंड की व्यापार नीति और अंगरेजों ने हमारे व्यापार-उद्योग को कैसे बरबाद किया जैसे राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों का सम्यक विवेचन कर सप्रेजी ने भारतीयों के चित्त को झकझोरा है। सुप्तावस्था से जागृत करने का यत्न किया है।

सितम्बर 1915 की 'मयार्दा' में पंडित माधवराव सप्रे ने 'राष्ट्रीय जागृति की मीमांसा' निबंध लिखा। जिस में वे लिखते हैं, ''पच्चीस तीस साल के पहिले कहा जाता था कि हिंदुस्तान 'संक्रमण' अवस्था में है। करीब दस-बारह साल के पहले लोग कहते थे कि हिंदुस्तान 'अशांति' की अवस्था में है। परंतु अब कहा जाता है कि हिंदुस्तान अपने 'पुनरुज्जीवन' के मार्ग पर है।'' इस संदर्भ में सप्रेजी ने रे.सी.एफ. एंड्रूज की पुस्तक 'The Renaissance in India' का उल्लेख किया है, जिसमें ''हमारी राष्ट्रीय जागृति की बहुत अच्छी मीमांसा की गई है।'' इस निबंध में अंग्रेजी राज के पहले भारत में समाज, शासन, शिक्षा आदि का विश्लेषण करते हुए वर्तमान दुरवस्था का चिंतन किया है। साथ ही स्वदेशी का भाव तथा राष्ट्रीय जागृति से उत्पन्न राजनीतिक, औद्योगिक, सामाजिक और शिक्षा-संबंधी आकांक्षाओं की व्याख्या की है।

पंडित माधवराव सप्रे का मार्च 1918 की 'सरस्वती' में प्रकाशित निबंध 'भारत की एक - राष्ट्रीयता' बहुत महत्वपूर्ण है। उन्हें पश्चिमी लेखकों की यह धारणा चुभती है कि ''हिंदुस्तान एक देश नहीं है। हिंदुस्तानियों में राष्ट्रीयता के आवश्यक अंगों का अभाव है। हिंदुओं को 'राष्ट्र' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय राष्ट्र एक भ्रामक शब्द है। हिंदुस्तान के निवासियों में उद्देश्यों की एकता नहीं है। उनमें अनेक जातियां हैं। उनके आचारों और विचारों में समता नहीं है। उनके रहन-सहन में बहुत भिन्नता दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा एक नहीं है। उनका कोई विश्वसनीय इतिहास भी नहीं है।'' सप्रेजी लिखते हैं, ''हम इन आक्षेपों का सप्रमाण खंडन करके अपने पाठकों को यह बतलाना चाहते हैं कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास है। हम लोगों में आंतरिक एकता का अभाव नहीं है। इसीलिए यह देश राष्ट्र संज्ञा का यथार्थ पात्र है।'' ... ''आर्य लोग उस समय भी सरस्वती और गंगा के किनारे अपना जीवन खेती इत्यादि में व्यतीत करते थे। जब संसार के अवार्चीन उन्नत देशों के पूर्वज घोर अज्ञान के अंधकार में पड़े थे तब भारत में आर्य जाति की ज्ञान ज्योति प्रज्वलित हो रही थी और अपनी दिव्य प्रभा से संसार के दूसरे देशों को भी लाभ पहुंचाती थी।'' ... ''प्राचीन समय में यह देश तत्व ज्ञान, वैद्यक, ज्योतिष, छंदः शास्त्र, संगीत आदि शास्त्रों में पारंगत था। महात्मा बुद्ध के समान धर्मगुरु, कालिदास से कवि, ब्रह्मगुप्त के सदृश गणित शास्त्र प्रवीण और श्री शंकराचार्य से तत्वज्ञानी महात्माओं की जननी यही भारतमाता है। प्राचीन स्थानों के शिलालेखों और उपलब्ध सामग्रियों से पता लगता है कि भारतवर्ष में पुराने जमाने में अनेक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे। भारतवर्ष की वर्तमान दशा को भी देख कर हमें हताश होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। हमारे देश में अब भी रवींद्र नाथ टैगोर से लेखक, श्रीरामकृष्ण परमहंस से आत्मज्ञानी, गोखले और मालवीयजी के समान राजनीतिज्ञ, बाबू सुरेंद्रनाथ के समान वक्ता, लोकमान्य तिलक के समान राष्ट्र कल्याण के लिए आत्मसमर्पण करने वाले अलौकिक पुरुष और गांधी के समान सत्याग्रही कर्मवीर उत्पन्न होते हैं।'' ...

''आक्षेप करने वाले फिर भी कह सकते हैं कि यद्यपि हिंदुओं की एक राष्ट्रीयता इस प्रकार सिद्ध हो गई, तथापि मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि भिन्न-भिन्न जातियों तथा उनके विभिन्न धर्मों के रहते हुए भारत की एक-राष्ट्रीयता कैसे मानी जा सकती है? इसका समाधान करने में अधिक विस्तार न करके केवल यह कह देना काफी होगा कि विभिन्न धर्म-मतों और जाति-भेदों से किसी राष्ट्र की एकता में कोई बाधा नहीं आती।''

समालोचना

'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से पंडित माधवराव सप्रे ने हिंदी साहित्य में समालोचना को प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'छत्तीसगढ़ मित्र' में दस पुस्तकों की विस्तृत समालोचना की गई है। सत्रह पुस्तकों पर परिचयात्मक टिप्पणियां लिखी गई हैं। सप्रेजी के मत में ''किसी पुस्तक या पत्र की आलोचना करने में समालोचक को उचित है कि उस पुस्तक या पत्र के गुण दोष सप्रमाण सिद्ध करे।''

पंडित श्रीधर पाठक की 51 पद्यों की पुस्तक 'जगत सचाई सार' की समालोचना करते हुए समालोचक ने लिखा है - ''इस्को, इस्से, उस्को, उस्से, जिस्को, जिन्की- ऐसे शब्दों के प्रयोग क्या गद्य में और क्या पद्य में सर्वथैव त्याज्य समझे गए हैं।'' ... ''दूसरे पद्य में 'वस्तु' शब्द का उपयोग एकवचन में करके उसके लिये बहुवचन सर्वनाम (उनसे) रक्खा है- हमारी समझ में यह व्याकरण के नियमानुसार नहीं है।'' ... ''30वें पद्य के 'अनंत उत्पन्न अपार' में अनुप्रासालंकार (यमक) बहुत ही अच्छा सधा है पर उसी के साथ पुनरुक्ति का दोष भी लग गया है।''

'भाषा चंद्रिका' पत्रिका की समालोचना करते हुए सप्रेजी ने अनेक शब्द उद्धृत किए हैं और टिप्पणी की है कि ''संपादक महाशय को हिंदी भाषा में लिंग भेद का ज्ञान बिलकुल नहीं है।'' ... ''इस पत्रिका में व्याकरण संबंधी अशुद्धियों के अतिरिक्त संस्कृत के बड़े बड़े कठिन शब्द और लंबे-लंबे समास इतने भरे हैं कि भाषा की स्वाभाविक सुंदरता बिलकुल नष्ट हो गई है और उसमें एक प्रकार की क्लिष्टता आ जाने से लेखक का भाव भी अत्यंत दुर्बोध हो गया है।''

पंडित श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्ड स्मिथ के काव्य 'द हरमिट' का 'एकांतवासी योगी' और 'डिजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़गाम' शीर्षक से पद्यानुवाद किया है। इनकी समालोचना विस्तार से करते हुए सप्रेजी ने लिखा है, ''अंग्रेजी के पंक्ति-प्रति पंक्ति का उल्था नहीं है। यही ठीक भी है।'' एक-एक पद्य की भाव, भाषा और रस-छंद के आधार पर समीक्षा की गई है। समालोचक ने कविता के संबंध में एक तीखी टिप्पणी भी की है - ''आजकल हिंदुस्तान में काव्य रस के विषय में बड़ी गड़बड़ मच गई है। अर्थ की गंभीरता, नैसर्गिक वर्णन की कुशलता, पद की सुंदरता और अलंकार की उपयुक्तता पर तो कोई भी ध्यान नहीं देता।''

'हास्य मंजरी' की समालोचना करते हुए सप्रेजी टिप्पणी करते हैं, ''हंसी जब तक परिमित प्रमाण पर स्थित है तभी तक उसमें सुशिक्षा मिलने की आशा

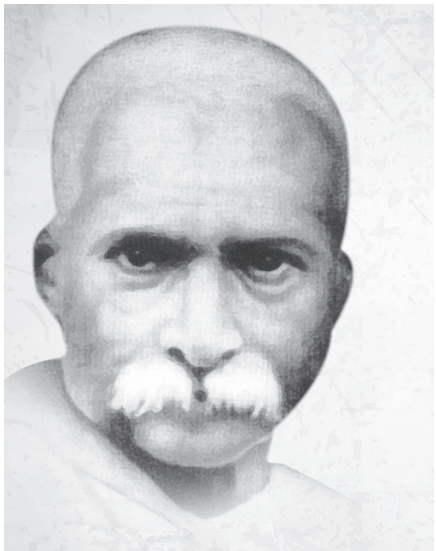

'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से माधवराव सप्रे ने हिंदी साहित्य में समालोचना को प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'छत्तीसगढ़ मित्र' में दस पुस्तकों की विस्तृत समालोचना की गई है। सत्रह पुस्तकों पर परिचयात्मक टिप्पाणियां लिखी गई हैं। सप्रेजी के मत में 'किसी पुस्तक या पत्र की आलोचना करने में समालोचक को उचित है कि उस पुस्तक या पत्र के गुण-दोष सप्रमाण सिद्ध करे।'

की जा सकती है परंतु यदि वह सभ्यता की मर्यादा को लांघ कर अनियमित हो जाए तो उससे सुशिक्षा मिलने के पलटे मन पर कुसंस्कार हो जाने का भय है।'' इसी समालोचना में भाषा के संबंध में सप्रेजी का दृष्टिकोण भी सामने आता है -''हम उर्दू या फारसी के उन शब्दों से विरोध नहीं रखते जो हिंदी की बोलचाल में कई बरसों तक प्रयुक्त हो जाने के कारण अब बिलकुल साधारण और परिचित हो गए हैं; और जहां कहीं प्रसंगानुसार ऐसे शब्दों का उपयोग लेखक को आवश्यक जान पड़े वहां उन शब्दों से काम लेने का उसे पूर्ण अधिकार है; परंतु अप्रासंगिक स्थलों में और बिना हेतु किसी पराई भाषा का एक शब्द भी लेना हमें स्वीकार नहीं है।''

पंडित कामता प्रसाद गुरु की 'भाषा वाक्य पृथक्करण' की स-तर्क समीक्षा सप्रेजी ने की है। साथ ही भाषा के लिए व्याकरण की महत्ता प्रतिपादित करते हुए, वे लिखते हैं, 'हम तो ऐसा समझते हैं कि हिंदी में व्याकरण विषयक ग्रंथ जितने अधिक लिखे जाएं उतना ही इस भाषा के सीखने वालों को अधिक लाभ होगा। वैय्याकरण एक प्रकार का मार्ग प्रदर्शक है। जब बड़े-बड़े कवि अपनी कल्पना शक्ति के बल पर कई विचित्र और अनूठे प्रयोगों का उपयोग अपने काव्य में कर जाते हैं, जब बड़े-बड़े वक्ता अपनी वाक शक्ति के प्रवाह में हजारों नए शब्द गढ़ कर धर देते हैं और जब बड़े-बड़े ग्रंथकार प्रस्तुत शब्दों के अनेक रूपांतर कर डालते हैं; और जब ये कुछ काल तक भाषा में रूढ़ होकर प्रचलित होने लगते हैं तब उनके अर्थों का निर्णय करके जुदे-जुदे वर्ग बनाना, नामकरण करना और विद्यार्थियों के हितार्थ नियमबद्ध करना व्याकरणकार का काम है। यदि यह अत्यंत महत्व का काम सम्यक प्रकार से संपादित न हो तो साहित्य का एक अंग अधूरा ही पड़ा रहेगा।''

स्त्री शिक्षा की पुस्तिका 'बालाबोधिनी' की समालोचना में सप्रेजी की स्त्री विषयक मान्यताएं स्पष्ट होती हैं। उनका मत है कि ''जब तक समाज में स्त्री और पुरुष दोनों के अधिकार समान भाव के न होंगे तब तक समाज की उन्नति न होगी और स्त्री-पुरुषों में स्वाभाविक प्रेम का बंधन न रहेगा।'' वे सावधान भी करते हैं, ''व्यक्ति स्वातंत्र्य का नाश होते ही स्वाभाविक प्रेम का लोप हो जाता है।''

'भारत गौरवादर्श' की समालोचना करते हुए सप्रेजी ने कपोल कल्पनाओं और भ्रांत धारणाओं के आधार पर थोथे गाल बजाने वालों को आड़े हाथों लिया है। इस किताब में 'दूर्दर्शकयंत्र - दूर्बीन' के विषय में दावा किया गया है कि ''व्यासजी ने संजय को एक दूर्बीन दी थी कि यहां से कुरुक्षेत्र का वृत्तांत महाराज धृतराष्ट्र को बतलाते रहना (देखो महाभारत भीष्म पर्व अध्याय 2 श्लोक 10)।'' बस तीन लकीरों में दूर्बीन विषय का प्रतिपादन हो चुका! और पाठकों को अब मान लेना चाहिए कि 'ऐतिहासिक प्रमाणों से भारतवर्ष का गौरव' भी स्थापित हो चुका। जिस श्लोक के आधार पर भारत वर्ष में दूर्बीन का होना बतलाया गया है, उसे देखिए -

''चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः।
कथयिष्यिति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति।।''

(भीष्म पर्व अध्याय 2, श्लोक 10)

इसमें तो कहीं भी दूरबीन या तल्लक्षण सूचक शब्द का नाम तक नहीं है। व्यास जी ने संजय को दूर्बीन नहीं दी थी; दिव्य-चक्षु दिए थे। सप्रेजी लिखते हैं, ''जिसे भारत के यथार्थ गौरव का वर्णन करना है उसे उचित है कि वह भारत के गुण और दोष दोनों का ठीक-ठीक वर्णन करे।''

पंडित श्याम बिहारी मिश्र और पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र के काव्य ग्रंथ 'लवकुश चरित्र' की समालोचना सप्रेजी ने अगस्त 1901 से दिसंबर 1901 तक 'छत्तीसगढ़ मित्र' के पांच अंकों में की है। गोस्वामी तुलसीदास को उद्धृत किया है--

''निज कवित्त किहिं लाग न नीका।
सरस होय अथवा बहु फीका।।''

यह अपने आप में एक टिप्पणी ही है। ग्रंथकारों के इस कथन पर उन्होंने आश्चर्य किया है कि ''विचार करने पर लवकुश चरित्र का विषय ध्यान आया और उसी समय पहला षट् पद बना - बस फिर क्या था,

कुल एक मास के अल्प परिश्रम में यह ग्रंथ तैयार हो गया।'' जबकि सप्रेजी का मत है कि ''जो कवि अपना नाम अपने काव्य ग्रंथ के द्वारा इस भूलोक में अजरामर करना चाहते हैं वे विषय चुनने में शीघ्रता नहीं करते। मिल्टन के जीवन चरित्र में लिखा है कि उसने अपने महाकाव्य Paradise Lost के लिए 'मनुष्य का अधःपात' (The Fall of Man) यह विषय कई बरसों में निश्चित किया था।'' 'लवकुश चरित्र' पर इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी है, ''क्या लवकुश चरित्र के मर्मज्ञ पाठकों के मन में यह बात खटकती न होगी कि जिस परिमाण से विषय के नियत करने तथा ग्रंथ के बनाने में शीघ्रता की गई है उसी परिमाण से इस पुस्तक में कथा की विचित्रता, भाव की न्यूनता, वर्णन की अनुपमता, स्वभाव का निरूपण और रस की हृदयगमता आदि उत्तम काव्य के गुणों का बहुत कुछ लोप भी हो गया है।'' समालोचना में अच्छे का स्वीकार भी है -''इस ग्रंथ का सब से मनोहर लक्षण भाषा की सरलता है।''

सप्रेजी ने 'भारत मित्र' को उद्धृत किया है -''जैसे जौहरी पार्थिव रत्नों की परख कर उनका मूल्य निर्धारित करता है उसी प्रकार साहित्य निष्णात विद्वान साहित्य के रत्नों की परीक्षा कर उनके गुण-दोष दिखलाते और मूल्य बतलाते हैं। इस व्यापार को समालोचना कहते हैं।''

अनुवाद

हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद आवश्यक होता है। पंडित माधवराव सप्रे ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है। ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों पर उत्तम पुस्तकें उपलब्ध हों, यह आवश्यकता सप्रेजी ने बहुत पहले समझ ली थी। किसी भाषा की सामर्थ्य का परिचय उसके व्यापक और विशाल शब्द भंडार और साहित्य भंडार से ही मिलता है।

सप्रेजी अनुवाद के मर्म को भलीभांति समझते थे। पंडित श्रीधर पाठक की अनुदित काव्य कृति 'एकांतवासी योगी' की समालोचना करते हुए वे कहते हैं - ''अनुवाद कर्म बड़ा कठिन है। इसमें कई बातों की ओर ध्यान देना पड़ता है। जिस विषय का उल्था करना है उसका मर्म जाने बिना काम नहीं चल सकता।''

अनुवादक के लिए सप्रेजी ने पांच कसौटियां मानी हैं -

1. जिस भाषा में मूल ग्रंथ लिखा गया हो उसका पूरा-पूरा ज्ञान उल्था करने वाले को होना चाहिए।

2. जिस भाषा में उल्था करना है उसका भी ज्ञान कुछ कम न हो। मूल ग्रंथ का भाव समझ लेने में कुछ बड़ी बात नहीं है, पर उसी को दूसरी भाषा में यथायोग्य प्रगट करना बड़ा ही कठिन काम है। किसी-किसी भाषा में ऐसे भाव होते हैं कि जो पराई भाषा से व्यक्त ही नहीं हो सकते और हुए भी तो अधूरे रह जाते हैं।

3. जिस विषय का अनुवाद करना है उसका अच्छी तरह से ज्ञान होना चाहिए।

4. जिस विषय का उल्था करना है वह उल्था करने योग्य हो।

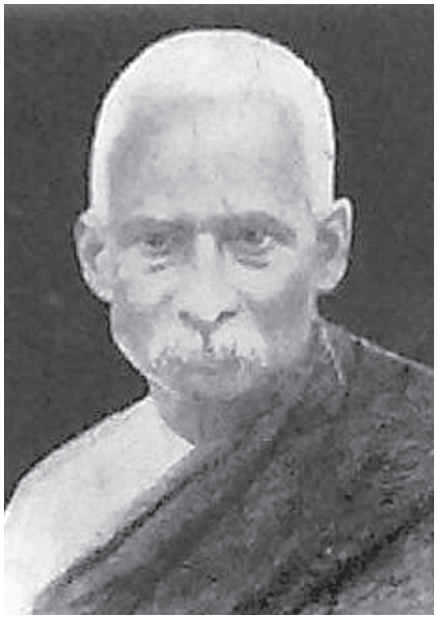

हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद आवश्यक होता है। पंडित माधवराव सप्रे ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है। ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों पर उत्तम पुस्तकें उपलब्ध हों, यह आवश्यकता सप्रेजी ने बहुत पहले समझ ली थी। किसी भाषा की सामर्थ्य का परिचय उसके व्यापक और विशाल शब्द भंडार और साहित्य भंडार से ही मिलता है।

5. अनुवादक मूल ग्रंथकार के साथ सहानुभूति रख कर समान वृत्ति हो जाय। जब ऐसा होगा तभी मूल ग्रंथ का भाव अनुवाद में पूर्ण रीति से चित्रित हो सकेगा।

अनुवाद सटीक हुआ या नहीं, इसे परखने के लिए भी वे मापदंड बताते हैं - ''पहले यह कि भाषांतर यथातथ्य और मूल ग्रंथ के अनुरूप बना है वा नहीं, मूल ग्रंथ के संपूर्ण भाव अनुवाद में आए हैं वा नहीं। दूसरी बात यह है कि, स्वतंत्र रीति से यह ग्रंथ कैसा बना है; जिन लोगों के लिए अनुवाद किया गया है उनको वह कहां तक रुचिकर और ग्राह्य हुआ। एक भाषा से दूसरी भाषा में उल्था करने में अनुवाद करने वाले को मूल ग्रंथकार ही के पीछे-पीछे चलना पड़ता है, वहां उसके निज की कल्पना का उसको बहुत-सा उपयोग नहीं हो सकता। परंतु वह एक काम अलबत्ते कर सकता है कि अनुवाद की भाषा सरल, भाव सुबोध, और रस मधुर रख कर अपनी योग्यता स्वतंत्र रीति से भी प्रगट करे।''

पंडित माधवराव सप्रे ने श्री समर्थ रामदास स्वामीकृत महत्वपूर्ण मराठी ग्रंथ 'दासबोध' का अनुवाद इसी नाम से किया है। सन् 1660 में इस मूल ग्रंथ की रचना हुई थी। हिंदी में इसका पहला अनुवाद सप्रेजी ने सन् 1910 में किया। 'दासबोध' ने निस्संदेह हिंदी में अध्यात्म और दर्शन के भाव पक्ष को समृद्ध किया है।

सप्रेजी का दूसरा महत्वपूर्ण अनुवाद लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का अनुपम ग्रंथ 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' है। इसका प्रकाशन सन् 1916 में हुआ। सप्रेजी को अनुवाद का कार्य सौंपते समय ''ग्रंथकार ने यह इच्छा प्रकट की कि मूल ग्रंथ में प्रतिपादित सब भाव ज्यों के त्यों हिंदी में पूर्णतया व्यक्त किए जाएं। इसलिए मैंने अपने लिए दो कर्तव्य निश्चित किए - (1) यथामति मूल भावों की पूरी-पूरी रक्षा की जाए, और (2) अनुवाद की भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो।'' महात्मा तिलक के 'गीता रहस्य' का यह अनुवाद हिंदी (और किसी भी) भाषा में पहला अनुवाद है। यह ग्रंथ हिंदी में अनुपमेय उपलब्धि है।

सप्रेजी का तीसरा उल्लेखनीय अनुवाद 'महाभारत मीमांसा' है। यह श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के श्रीमन्महाभारत के 'उपसंहार' नामक मराठी ग्रंथ का अनुवाद है। पुणे की ग.वि. चिपलूणकर मंडली ने इस ग्रंथ का प्रकाशन सन् 1920 में किया। इनके अलावा सप्रेजी द्वारा श्री दत्तात्रेय गोपाल लिमये की मराठी पुस्तक का अनुवाद 'भारतीय युद्ध', चित्रशाला प्रेस पुणे से संवत् 1970 में, दत्त-भार्गव नामक मराठी ग्रंथ का अनुवाद 'श्री दत्त भार्गव संवाद' नाम से, संवत् 1982 में एवं श्री हरि गणेश गोडबोले के मराठी ग्रंथ 'आत्म विद्या' का अनुवाद भी महत्वपूर्ण है।

अर्थशास्त्रीय चिंतनः बृहत्तर बंगाल की चेतना और शक्ति को कुचलने के लिए कर्जन ने बंग भंग का फैसला किया। 16 अक्टूबर 1905 को 'पूर्वी बंगाल और असम' तथा 'पश्चिम बंगाल' दो प्रांत हो गए। इस एक परिघटना ने न केवल बंगाल बल्कि पूरे देश को जाग्रत और उद्यत कर दिया। प्रतिकार के लिए एक बड़े संकल्प ''विदेशी वस्तुओं का त्याग और केवल स्वदेशी-वस्तु के व्यवहार'' की अटल प्रतिज्ञा ली गई। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के 'केसरी' ने इस विषय में काफी कुछ लिखा। हिंदी भाषी क्षेत्रों में जन जागरण के लिए पंडित माधवराव सप्रे ने उसी के आधार पर अगस्त 1906 में एक लंबा निबंध लिखा-'स्वदेशी-आंदोलन और बायकाट अर्थात् भारतवर्ष की उन्नति का एकमात्र उपाय।' 64 पृष्ठ के इस निबंध में सप्रेजी ने बहुत सरल भाषा और बोधगम्य शैली में भारत की दुर्दशा और फिरंगियों की लूट का बेबाक चित्रण कर विषय की गंभीरता को समझाया है। इस लेख ने जन चेतना को झकझोरा। मानो पराधीनता के अभिशाप से साक्षात्कार करा दिया हो। सप्रेजी ने अर्थशास्त्र विषयक कई अन्य निबंध भी लिखे हैं जो सरस्वती, मर्यादा, प्रभा, श्री शारदा जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुए

हैं। वे बहिष्कार की शक्ति और सामर्थ्य से परिचित थे। इसीलिए 'स्वदेशी-आंदोलन और बायकाट' निबंध में दो टूक टिप्पणी कर सके - ''यह एक रामबाण-अस्त्र है जिसका प्रयोग, हम लोग, स्वदेश की यथार्थ उन्नति के लिए भली भांति कर सकते हैं।''

सरस्वती के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'संपत्ति शास्त्र' की भूमिका में लिखा है -''संपत्ति शास्त्र विषयक पुस्तकों की जरूरत को पूरा करने - इस अभाव को दूर करने - की, जहां तक हम जानते हैं, सबसे पहले पंडित माधवराव सप्रे, बी.ए., ने चेष्टा की। हिंदी में अर्थशास्त्र-संबंधी एक पुस्तक लिखे आपको बहुत दिन हुए। परंतु पुस्तक आपके मन की न होने के कारण उसे प्रकाशित करना आपने उचित नहीं समझा। आपकी राय है कि अर्थशास्त्र-संबंधी पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसमें इस देश की सांपत्तिक अवस्था का विचार विशेष प्रकार से किया गया हो। आपका कहना बहुत ठीक है। आपको जब हमने लिखा कि संपत्ति शास्त्र पर हम एक पुस्तक लिखने का इरादा रखते हैं तब आपने प्रसन्नता प्रकट की और अपनी हस्तलिखित पुस्तक हमें भेज दी। उससे हमने बहुत लाभ उठाया है। एतदर्थ हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं।''

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली योजना में अर्थशास्त्र खंड की शब्दावली तैयार करने का दायित्व सप्रेजी को सौंपा गया। मुंबई के विद्वानों से तद्विषयक संपर्क के लिए श्री माधवराव सप्रे को भेजा गया। वहां वे सर्वश्री टी.के. गजदर, डॉ. रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, डॉ. एम.जी. देशमुख से मिले। अर्थशास्त्र के अंग्रेजी के 1320 शब्दों के लिए हिंदी के 2115 शब्द बनाए गए। संवत् 1962 (1905 ई.) में पूरा कोश छप कर तैयार हो गया। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक कोश निर्माण का यह प्रथम उपक्रम है जो सप्रेजी के अर्थशास्त्र विषयक अध्ययन और अवदान का प्रमाण है।

कहानी

यद्यपि सप्रेजी की छः कहानियां 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित हुई हैं। ये हैं-सुभाषित रत्न 1-2 (जनवरी, फरवरी 1900), एक पथिक का स्वप्न (मार्च 1900), सम्मान किसे कहते हैं (अप्रैल 1900), आजम (जून 1900) और एक टोकरी भर मिट्टी (अप्रैल 1901)। किंतु कथाकार के रूप में सप्रेजी की पहचान नहीं बनी। यद्यपि लोकप्रिय कहानी पत्रिका 'सारिका' में यह बहस चली थी कि सप्रेजी की 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिंदी की पहली मौलिक कहानी है, परंतु यह अवधारणा हिंदी-जगत में सर्वमान्य नहीं हुई।

राष्ट्रभाषा हिंदी

हिंदी साहित्य सम्मेलन का पंद्रहवां अधिवेशन 9-10-11 नवंबर 1924 को देहरादून में होने वाला था। इसकी अध्यक्षता पंडित राधाचरण गोस्वामी को करनी थी। अकस्मात ऐसी स्थितियां बनीं कि गोस्वामीजी नहीं आ सके। राष्ट्रीय अधिवेशन हिंदी की विशिष्ट विभूतियों का समागम होता था। इसका सभापतित्व श्रेष्ठता और वरिष्ठता के आधार पर सौंपा जाता था। स्वागत समिति

'मैंने इस बात का अनुभव किया कि इस विशाल देश में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सब प्रांतों के लोग अपनी राष्ट्रभाषा मानें, और वह भाषा हिंदी को छोड़ कर अन्य कोई नहीं है। मैं महाराष्ट्री हूं, परंतु हिंदी के विषय में मुझे उतना ही अभिमान है, जितना किसी हिंदी भाषी को हो सकता है। मैं राष्ट्रभाषा को अपने जीवन में ही सर्वोच्च आसन पर देखने का अभिलाषी हूं।'

ने तब हिंदी के अनन्य सेवक पंडित माधवराव सप्रे को सभापति बनाने का निर्णय लिया। सप्रेजी ऐसी किसी तैयारी से तो गए नहीं थे, परंतु उनके विचार सूत्रों ने सम्मेलन को सारवान् और सार्थक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आरंभिक वक्तव्य में पंडित माधवराव सप्रे ने कहा- ''मैंने इस बात का अनुभव किया कि इस विशाल देश में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सब प्रांतों के लोग अपनी राष्ट्रभाषा मानें, और वह भाषा हिंदी को छोड़ कर अन्य कोई नहीं है। मैं महाराष्ट्री हूं, परंतु हिंदी के विषय में मुझे उतना ही अभिमान है, जितना किसी हिंदी भाषी को हो सकता है। मैं चाहता हूं कि इस राष्ट्रभाषा के सामने भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भूल जाए कि मैं महाराष्ट्र हूं, मैं बंगाली हूं, मैं गुजराती हूं, या मैं मदरासी हूं। ये मेरे 35 वर्ष के विचार हैं और तभी से मैंने इस बात को निश्चय कर लिया है कि मैं आजीवन हिंदी भाषा की सेवा करता रहूंगा। मैं राष्ट्रभाषा को अपने जीवन में ही सर्वोच्च आसन पर देखने का अभिलाषी हूं।''

यह केवल विचारों की स्पष्टता का ही दृष्टांत नहीं है, सप्रेजी ने आजीवन हिंदी की सेवा और साधना की। सम्मेलन के समापन सत्र में सभापति के आसन से पंडित माधवराव सप्रे ने कहा- ''जैसे नाटक के भिन्न-भिन्न पात्र रूप धर कर आते हैं और अपना कर्तव्य करके चले जाते हैं। वास्तव में, उनका मूल स्वरूप कुछ और ही होता है, परंतु पराधीनता में आकर उनको दूसरे का कर्तव्य करना होता है। वे जिस प्रकार पराधीनता का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार देवियों, भाइयों, आप भी इस पराधीनता का अनुभव करें, और इस बात का प्रण करें कि हम इस पराधीनता को अवश्य दूर करेंगे, इन पराधीनता की श्रृंखलाओं में हमको सुख नहीं मिल सकता। पराधीनता की जंजीरों को तोड़ने के लिए अनेक साधन हैं। उनमें हिंदी भाषा का प्रचार करना एक मुख्य साधन है। इसलिए भाइयों! आओ, हम सब लोग मिल कर इस बात का प्रण करें कि हम राष्ट्रभाषा का झंडा भारत के कोने-कोने में फहरा देंगे। मौका आ जाएगा, तो हम शरीर का भी बलिदान कर देने में आगा-पीछा नहीं करेंगे। यही राष्ट्रभाषा के नाम पर हम आप लोगों से भिक्षा मांगते हैं। परमात्मा वह दिन शीघ्र लावें, जब हम इस बात को सिद्ध कर देवें कि अब हम बहुत दिन तक इस गुलामी में जकड़े नहीं रह सकते।''

सप्रेजी के ये उद्गार राष्ट्रभाषा की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं, राष्ट्र जीवन में भाषा के महत्व का मर्म समझते हैं, भाषा को देश की स्वाधीनता और पराधीनता के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। देश का दुर्भाग्य है कि हम अभी भी इस सीख को हृदयंगम नहीं कर सके।

जिन-जिन विषयों में पंडित माधवराव सप्रे ने प्रभावी एवं सार्थक रचनाकर्म किया है उससे पाठक अवगत हो सकें। राष्ट्र, राष्ट्र भाषा, स्वदेशी, मूल्यपरक शिक्षा तथा सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में आज हम जिन समस्याओं और कठिनाइयों से दो-चार हो रहे हैं उनसे निबटने का मार्ग सप्रेजी की लेखनी से खुलता है।

लेख का समापन राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन की इस टिप्पणी के साथ करना उपयुक्त होगा- 'सप्रेजी उन थोड़े से इने गिने मनुष्यों में हैं, जिन्होंने अपना सुख त्याग कर देश हित के लिए अपना जीवन समर्पण किया है। उन गिने हुए देशसेवकों में हैं, जिन्होंने मातृभाषा दूसरी होते हुए भी, हिंदी को राष्ट्रभाषा के नाते अपनाया है। ... उनका गीता रहस्य तो बहुतों ने देखा है। वह कितनी ऊंची वस्तु है, प्रायः सब ही पढ़े-लिखे लोग जानते हैं। किंतु जो उनके जीवन-रहस्य से परिचित हैं वे इतना और अधिक जानते हैं कि सप्रेजी का व्यक्तित्व कितने उच्च आदर्श का है। सप्रेजी का संबंध राष्ट्रीयता से प्राचीन है। वह केसरी होकर भारत में गरज चुके हैं। उनकी वाणी से कितने ही शत्रुओं के हृदय दहल चुके हैं। सप्रेजी जैसी महान आत्माओं द्वारा उसी प्रकार हिंदी केसरी फिर गरजेगा और राष्ट्र को आगे बढ़ावेगा।'

संकलन

एक बहुमूल्य दस्तावेज

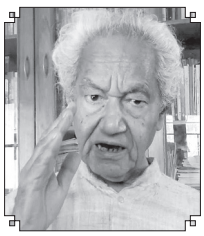

रमेशचंद्र शाह

कथाकार

संपर्क :
एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.)

कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे भारतीय नवजागरण के पुरोधा संपादक - साहित्यकार हैं। लोकमान्य तिलक के ओज और तेज का हिंदी जगत में संचार करने का महत कार्य सप्रेजी ने किया। संपादक के रूप में उनकी भूमिका लोक प्रहरी की है और सुधी साहित्यकार के रूप में लोक शिक्षक की। कोशकार और अनुवादक के रूप में उन्होंने हिंदी भाषा को समृद्ध किया है।

आधुनिक खड़ी बोली हिंदी का अभ्युदय जहां एक ओर हजार बरस पुरानी हिंदी का एक नए ऐतिहासिक और भू-राजनीतिक परिवेश में पुनर्जन्म है, वहीं वह साहित्य और पत्रकारिता के भी एक नवजात और सर्वथा अभूतपूर्व - अभूतपश्चात सहयोग-सहकार का-कहना चाहिए-एक अनूठे 'महागठबंधन' का-भी प्रत्यक्ष और प्रामाणिक वस्तु-पाठ है। इस सत्य का जैसा तीखा और भावोन्मेषकारी साक्षात्कार इन पंक्तियों के लेखक को तब हुआ था जब उसका साबका पहली बार बालमुकुंद गुप्त के 'शिव शंभु का चिट्ठा' से-और उसमें भी 'एक दुराशा' नामक निबंध से पड़ा था। ठीक वैसी ही कैफीयत उस पर इस दूसरी और वैसी ही अप्रत्याशित रूप से भावोत्तेजक घटना के फलस्वरूप तारी हो रही है, जिसका नाम अभी हाल साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'माधवराव सप्रे रचना-संचयन' है। जिसका चयन-संपादन 'भारतीय पत्रकारिता कोश' के कृती तथा सप्रे संग्रहालय भोपाल के संस्थापक-संयोजक विजयदत्त श्रीधर ने किया है। उनका लिखा इस संचयन का प्राक्कथन ही काफी सटीक मूल्यांकन सप्रेजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का करता है और संकलित सामग्री का भी खाका प्रस्तुत कर देता है। उसका प्रारंभ ही देख लीजिए -

कर्मयोगी पं. माधवराव सप्रे भारतीय नवजागरण के पुरोधा संपादक - साहित्यकार हैं। लोकमान्य तिलक के ओज और तेज का हिंदी जगत में संचार करने का महत कार्य सप्रेजी ने किया। संपादक के रूप में उनकी भूमिका लोक प्रहरी की है और सुधी साहित्यकार के रूप में लोक शिक्षक की। कोशकार और अनुवादक के रूप में उन्होंने हिंदी भाषा को समृद्ध किया है। उनका एक महत्वपूर्ण अवदान ऐसी प्रतिभाओं की खोज और प्रोन्नयन है जिन्हें वे राष्ट्रीय कार्य के लिए उपयुक्त पाते थे। कवि-चिंतक-संपादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी, कवि-संपादक- राजनेता पं. द्वारका प्रसाद मिश्र, नाटककार सेठ गोविंददास, सुधी संपादक लक्ष्मीधर वाजपेयी जैसी विभूतियों का लोक व्यक्तित्व सप्रेजी की ही निर्मितियां हैं।

हमारे जैसे अनेकानेक हिंदी के सामान्य लेखकों-पाठकों के लिए सप्रेजी के योगदान का यह परिचय विस्मय कर हो सकता है क्योंकि सप्रेजी के बारे में जितनी जानकारी अपेक्षित है, उतनी लोगों को है नहीं। हम दुर्बल स्मृति वाली प्रजा हैं जिसके लिए कृतज्ञता कोई खास मानी नहीं रखती। अक्षरशः जो अर्थ है 'कृतज्ञता' का-अर्थात् अपने पूर्ववर्तियों-अग्रजों अथवा समकालीनों के किए-धरे का यथातथ्य ज्ञान और गुणग्राही स्वीकार - वह कम से कम आज की तारीख के भारतीय प्रजाजनों का चारित्रिक गुण तो नहीं ही है। इस कटु यथार्थ को देखते समझते हुए इस तरह के उपक्रमों की आवश्यकता और प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है। चयनकर्ता-संपादक श्रीधरजी ने सप्रेजी के पहले ही महत्वपूर्ण उपक्रम 'छत्तीसगढ़ मित्र' के प्रवेशांक में प्रकाशित 'आत्म परिचय' को उचित ही महत्व देते हुए रेखांकित किया है। यह ग्रंथ - जिसकी संकल्पना के लिए यशस्वी संपादक हम सबके साधुवाद और कृतज्ञता के पात्र हैं, चार खंडों में पूर्ण होता है: निबंध, समालोचना, कहानियां और अनुवाद शीर्षक। अंत में 'परिशिष्ट' भी है-सप्रेजी के संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा कृतित्व को सूचित करता हुआ। इनमें पहला खंड सर्वाधिक ध्यानाकर्षक है, क्योंकि वह गांधीजी के भारतीय राजनीति में आविर्भाव से पूर्व के परिदृश्य को उसके सामाजिक-राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक वातावरण तथा परिवेश को भी उजागर करता है। इस कालखंड का हमारी स्मृति से विलोप-सा हो गया है: कौन-सी समस्याएं या चिंताएं उस समय भारतीय जनमानस को आंदोलित कर रही थीं? किस तरह की मानसिक-बौद्धिक तैयारी तब तक हुई थी? उस पुनर्जागरण की कौन-कौन सी कमियां और सीमाएं थीं? क्यों उसे आज हमारे सबसे समर्थ और प्रतिभाशाली चिंतक एक अधूरा पुनर्जागरण कहते हैं? यह आज सर्वाधिक विचारणीय है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि पुनर्जागरण का वह अधूरापन गांधीजी के आने से - या कि तिलकोत्तर अध्याय हमारे स्वतंत्रता संग्राम का जो घटित हुआ, उससे पूरा हो गया। न ही, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक विकास का इतिहास ही उस अधूरेपन की यथोचित क्षतिपूर्ति का आश्वासन देता है। इस विषय में गहरे उतरने और आज की वास्तविकता को समझने तथा आगे की सुध लेने के लिए हमारे पिछले इतिहास से जो सबक सीखना अब अनिवार्य लगने लगा है, उस सबक का एक अंश सप्रेजी के इन निबंधों से ताल्लुक रखता है। विशेषकर जो सबसे विचारोत्तेजक निबंध हैं उनसे। मसलन, 'स्वदेशी आंदोलन और बायकाट' शीर्षक निबंध। इसी के साथ लगा या अगला लेख 'इंग्लैंड की व्यापार नीति' भी इस दृष्टि से पुनः पठनीय और मननीय है। सप्रेजी कितने जागरूक यथार्थवादी पत्रकार थे, इसका एक प्रमाण 'नेपल्स की कासानोवा नामक औद्योगिक शाला' शीर्षक से लिखा गया और सरस्वती के दिसंबर 1904 के अंक में प्रकाशित उनका लेख है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक लगता है। भारत की शिक्षा-प्रणाली के

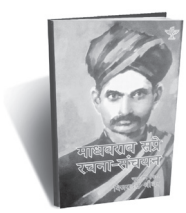

पुस्तक:
माधवराव सप्रे रचना-संचयन
चयन एवं संपादन:
विजयदत्त श्रीधर
प्रकाशक:
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 452
मूल्य: ₹ 400

मुख्य दोष को रेखांकित करते हुए सप्रेजी इस लेख के उपसंहार में कहते हैंः

मुख्य दोष यही है कि इस प्रणाली से निकले विद्यार्थी सरकारी नौकरी के सिवा और किसी भी काम के नहीं रह जाते। ...हमारे देश में व्यवसाय और कारीगरी इत्यादि उद्योगों की शिक्षा बहुतायत से दी जानी चाहिए। नेपल्स के कासानोवा इंस्टीट्यूट का जो वर्णन हमने किया है-उससे अगर इस महत्वगर्भित विषय की ओर हमारे पाठकों का ध्यान आकर्षित होगा तो हम अपने को भाग्यवान समझेंगे।

सप्रेजी यह जानना और जताना अत्यावश्यक मानते थे कि किसी देश या समाज की उन्नति के लिए लोगों में कौन से गुण होने चाहिए। वे अनुभव करते हैं कि इस बात की शिक्षा यूरोप के इतिहास से मिल सकती है क्योंकि उस इतिहास को पढ़ने से देशोन्नति के क्रम का जैसा जो यथार्थ-बोध होता है, वह अन्य इतिहासों से नहीं होता। 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें' शीर्षक लेख इस दृष्टि से आज भी सामान्य हिंदी पाठकों को मनोरंजक और शिक्षाप्रद लगेगा। ऐसा ही एक अन्य उपयोगी लेख, जो इस संचयन में शामिल किया गया है, वह है - 'हमारे सामाजिक ह्रास के कुछ कारणों का विचार'। यह लेख आज की तारीख में भी उतना ही चेताने वाला, उतना ही यथार्थवादी और उतना ही दूरदर्शी है, जितना वह सप्रेजी के समय में रहा होगा। इस लेख से सप्रेजी के अग्रगामी विवेक का, चौकन्नी आंख का ऐसा विस्मयकारी प्रभाव पड़ता है पाठक के मन पर, कि एकाएक समझ में नहीं आता -क्यों इस यथार्थ को आज की तारीख में भी हमारे शिक्षाविद्, बुद्धिजीवी समुदाय यानी साहित्य तथा पत्रकारिता से जुड़े लोग नहीं देख पा रहे हैं? वे कहते हैं, ''आज कल के लिखे-पढ़े विद्वानों का बुद्धि-सामर्थ्य और मानसिक उत्साह, उनकी अंतिम परीक्षा के बाद ही समाप्त हो जाता है। हमारे युवकों को विदेशी विद्या और सभ्यता से टक्कर लेने की उतावली रहती है। इसके लिए उन्हें अत्यधिक मानसिक श्रम करना पड़ता है। इन आधुनिक पढ़े-लिखों की बुद्धि की निरंतर वर्तमान शिथिलता देखकर हृदय में निराशा का सागर उमड़ आता है।''

सप्रेजी का सौ साल पहले निकाला गया यह निष्कर्ष आज भी कितना खरा है, कहने की बात नहीं कि ''हम लोग अल्प समय में अमर्यादित मानसिक श्रम और मस्तिष्क का अपव्यय करके स्वयं ही अपने शरीर और अपनी बुद्धि दोनों को निर्बल कर डालते हैं।''

सप्रेजी उस जमाने में जब अंग्रेजों की सभ्यता और कार्य क्षमता का जबरदस्त दबदबा हमारे ऊपर था और स्वयं सप्रेजी सरीखे देशभक्त और स्वदेशी के पैरोकार भी उनके कुछ गुणों के कायल थे -उस जमाने में भी सप्रेजी इस बारे में एकदम निर्भ्रांत हैं कि थोड़े समय में अधिक लाभ की आशा से पश्चिमी सभ्यता पर मोहित हो जाना और अपने प्राचीन स्वरूप का त्याग कर देना आत्मघाती है। वे साफ कहते हैं और यूं ही नहीं, सोदाहरण और सप्रमाण कहते हैं, ''यथार्थ में पश्चिमी सुधार और सभ्यता का स्वरूप बड़ा भयानक है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जहां-जहां यूरोप वालों ने कालोनी बनाई, वहां-वहां के मूल निवासी नष्ट हो गए।''

''हमें पश्चिमी सुधार और सभ्यता का अनुकरण बहुत ही सोच-समझकर करना चाहिए। इस बात पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए कि अपने समाज को किसी तरह भी हानि पहुंचाए बिना हम लोग पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों को कैसे अपना सकते हैं। यदि अत्यधिक दिमागी अपव्यय से हमारे समाज का ह्रास हो रहा हो तो उसे टालने का उपाय अभी से सोचना-करना चाहिए।''
आज की वस्तुस्थिति को देखते हुए तो यही लगेगा कि सप्रेजी जैसे दूरदर्शी विचारक-पत्रकार की यह गंभीर चेतावनी अनसुनी ही रह गई, जिसके दुष्परिणाम हम अब जाकर भुगत रहे हैं।

वे एक अंग्रेज विद्वान किड के ही ग्रंथ को उद्धृत करते हैं इसी सिलसिले में, जिसके अनुसार- ''ऐंग्लो सेक्सन जाति के लोगों की महत्वाकांक्षा यही है कि दुनिया में युद्ध बंद हो जाएं। परंतु युद्ध किए बिना ही वे लोग माउरी, आस्ट्रेलियन और रेड इंडियन जातियों का सर्वनाश कर रहे हैं। हब्शी अब भले ही आजाद कर दिए गए हों, परंतु वे अभी तक बहिष्कृत ही माने जाते हैं। ये लोग भले ही अपनी तलवारें तोड़ कर उनके हल-फाल बनवा लें, परंतु उनके हाथ में कृषि और उद्योग धंधों के निर्दोष औजार भी जहरीली तलवारों से अधिक भयानक और विनाशक हो जाते हैं।''

इस पर से सप्रेजी जो सुविचारित निष्कर्ष निकालते हैं, वह आज की तारीख में भी कितना प्रासंगिक है, कहने की बात नहीं। उनका निष्कर्ष रहा है कि ''हमें पश्चिमी सुधार और सभ्यता का अनुकरण बहुत ही सोच-समझकर करना चाहिए। इस बात पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए कि अपने समाज को किसी तरह भी हानि पहुंचाए बिना हम लोग पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों को कैसे अपना सकते हैं। यदि अत्यधिक दिमागी अपव्यय से हमारे समाज का ह्रास हो रहा हो तो उसे टालने का उपाय अभी से सोचना-करना चाहिए।''

आज की वस्तुस्थिति को देखते हुए तो यही लगेगा कि सप्रेजी जैसे दूरदर्शी विचारक-पत्रकार की यह गंभीर चेतावनी अनसुनी ही रह गई, जिसके दुष्परिणाम हम अब जाकर भुगत रहे हैं।

इस लेख में सप्रेजी आगे ऐसे महात्माओं का उल्लेख करते हैं जिनमें बुद्धि-स्वातंत्र्य के साथ-साथ अंतःकरण की श्रेष्ठ मनोवृत्तियां भी पूरी तरह जाग्रत थीं। उनके अनुसार, ''जो सिर्फ बुद्धिवादी स्वतंत्रता के बूते समाज-सुधार का काम करना चाहते हैं, वे समाज का हित करने के बदले उसकी हानि ही किया करते हैं।'' पश्चिमी शिक्षा के लाभों को स्वीकार करते हुए भी वे स्पष्ट जानते और कहते हैं कि ''हमारी शिक्षा-प्रणाली में विदेशी भाषा का आधिपत्य हो जाने से हमारे समाज को हानि भी बहुत पहुंच रही है।'' इतना ही नहीं, आगे वे इस कटु सत्य को भी बलपूर्वक रेखांकित कर देते हैं कि ''जिसको हम लोग बुद्धि-स्वातंत्र्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य कहते हैं, वह यथार्थ में हमारी बौद्धिक पराधीनता है, मानसिक दुर्बलता है।'' यह पूरा निबंध (हमारे सामाजिक ह्रास के कारणों का विचार) जो अक्टूबर 1915 की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था, इतना अग्रगामी-दूरदर्शी विवेक झलकाता है कि इसे बाकायदा स्कूल-कॉलेजों के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए।

इतना ही महत्वपूर्ण और प्रासंगिक निबंध है-'भारत की एक राष्ट्रीयता'। इसे पढ़ कर सप्रेजी की दूरदर्शिता पर दंग रह जाना पड़ता है। वे कहते हैं ''हिंदुस्तान संबंधी जो इतिहास-ग्रंथ हमारे विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाते हैं उनमें यही बातें सिद्धांत रूप में पेश की गई हैं कि हिंदुस्तान एक देश नहीं है, कि हिंदुओं को 'राष्ट्र' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती, कि भारत राष्ट्र एक भ्रामक शब्द है।'' सप्रेजी धैर्यपूर्वक मगर पूरे आत्मविश्वास और ज्ञानपूर्वक इन झूठों का पर्दाफाश करते हैं। यह इतना जबरदस्त लेख है कि उद्धरण देकर उसकी तेजस्विता का आभास तक नहीं कराया जा सकता है। पूरा पढ़ना पड़ेगा पाठकों को यह लेख और मनन करना पड़ेगा, तभी बात बनेगी। इस लेख के उपसंहार को ही संक्षेप में यहां उद्धृत कर देना इस समीक्षा का समुचित उपसंहार होगा। सप्रेजी के ही शब्दों में, ''हम यह जान गए हैं कि सब हिंदू एक ही पूर्व-संगठित राष्ट्र के अवयव हैं। प्रत्येक हिंदू में आंतरिक एकता तथा सहानुभूति जाग्रत है। जो कुछ बाहरी भेद दिखाई पड़ता है उसे अपने राष्ट्रीय अनैक्य का प्रमाण कदापि न समझना चाहिए। यदि हमारी श्रेष्ठ सभ्यता के आधारभूत सिद्धांतों में कोई दोष होता, यदि हमारी वर्ण व्यवस्था और धर्म की बाहरी उपाधियों के कारण सचमुच ही हिंदू राष्ट्र में अंतरंग और तीव्र अनैक्य होता तो यह कदापि संभव न था कि अनेक शताब्दियों से दीन दशा में रह कर भी इस समय हिंदू राष्ट्र में सजीवता के चिह्न दीख पड़ते। यदि सब हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि परस्पर भ्रातृ भाव की वृद्धि करें और इस देश को अपनी जन्मभूमि समझकर प्रत्यक्ष मां के समान इसको प्यार करें, सारी इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय भाव से प्रेरित होकर एक साथ मिलजुल कर प्रयत्न करें, तो हम समस्त संसार से पुकार कर कह सकते हैं कि यह प्राचीन भारत एक जीवित राष्ट्र है - इसकी राष्ट्रीयता में संसार की कोई भी विरोधिनी शक्ति बाधा नहीं डाल सकती। हमें पूरी आशा और विश्वास है कि स्वतंत्रता-प्रेमी ब्रिटिश जाति भारत की एक राष्ट्रीयता को कार्यक्षम रीति से सफलतापूर्वक सिद्ध होने देने में सहायक होकर स्वयं अपना और सारे संसार का कल्याण करने का यश प्राप्त करेगी''?

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि अंतिम वाक्य की सहज सद्भावना निरर्थक सिद्ध हुई और ब्रिटिश जाति यश की नहीं, घोर अपयश की ही भागी बनी।

यथार्थ के नायकः पांच भक्त कवि

खगेंद्र ठाकुर

आलोचक

संपर्क :
क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी,
पथ संख्या-24,
राजीव नगर,
पटना-800024

लेखक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने छोटी-सी भूमिका में लिखा है, ''जायसी की मानवतावादी भाव-भूमि पर नए सिरे से विचार करना मुझे उनकी ऐतिहासिक अनिवार्यता की ओर आकृष्ट करता रहा। वर्तमान सांप्रदायिक उन्माद के विरुद्ध संघर्ष के दौर में जायसी मुझे प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। जहां तक मीरांबाई की चर्चा का प्रश्न है, इधर नए-नए समालोचकों ने स्त्री विमर्श के अलावा अन्य दृष्टि बिंदुओं से भी उन पर विचार किया है। इसी तरह कबीरदास पर भी नए ढंग से चर्चा-परिचर्चा का समकालीन प्रचलन इस बात के लिए आमंत्रण देता है कि कबीर पर नए ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक भाष्य प्रस्तुत किया जाए। ब्रज प्रदेश की लोक-संस्कृति में पली बढी कृष्ण भक्ति पर विचार करने की एक प्रतिज्ञा काफी दिनों से मुझे प्रेरित करती रही है। (इसी प्रेरणा का परिणाम है सूरदास पर लिखा गया लेख)। अपने जमाने के यथार्थ की दुरवस्थाओं का चित्रण तुलसी से कलयुग और रामराज्य के रूप में प्रस्तुत किया है। कलयुग और रामराज्य के रहस्य का उद्घाटन आवश्यक प्रतीत होता रहा है। इन्हीं संदर्भों में भक्ति काव्य के पांच रचनाकारों पर केंद्रित एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता मुझे महसूस होती रही है, जिसकी परिणति इस पुस्तक के रूप में हुई है।''

पुस्तक:
पांच भक्त कवि
लेखक:
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
प्रकाशक:
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 188
मूल्य: ₹ 350

यह 'पांच भक्त कवि' एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति है। इस पुस्तक में कबीर, मीरांबाई, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास के काव्य-कौशल पर बहुत अच्छे ढंग से लिखा गया है। ये कवि मध्यकाल के भक्ति आंदोलनों से गहराई से जुड़े रहे हैं। लेखक ने छोटी-सी भूमिका में लिखा है, ''जायसी की मानवतावादी भाव-भूमि पर नए सिरे से विचार करना मुझे उनकी ऐतिहासिक अनिवार्यता की ओर आकृष्ट करता रहा। वर्तमान सांप्रदायिक उन्माद के विरुद्ध संघर्ष के दौर में जायसी मुझे प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। जहां तक मीरांबाई की चर्चा का प्रश्न है, इधर नए-नए समालोचकों ने स्त्री विमर्श के अलावा अन्य दृष्टि बिंदुओं से भी उन पर विचार किया है। इसी तरह कबीरदास पर भी नए ढंग से चर्चा-परिचर्चा का समकालीन प्रचलन इस बात के लिए आमंत्रण देता है कि कबीर पर नए ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक भाष्य प्रस्तुत किया जाए। ब्रज प्रदेश की लोक-संस्कृति में पली बढी कृष्ण भक्ति पर विचार करने की एक प्रतिज्ञा काफी दिनों से मुझे प्रेरित करती रही है। (इसी प्रेरणा का परिणाम है सूरदास पर लिखा गया लेख)। अपने जमाने के यथार्थ की दुरवस्थाओं का चित्रण तुलसी से कलयुग और रामराज्य के रूप में प्रस्तुत किया है। कलयुग और रामराज्य के रहस्य का उद्घाटन आवश्यक प्रतीत होता रहा है। इन्हीं संदर्भों में भक्ति काव्य के पांच रचनाकारों पर केंद्रित एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता मुझे महसूस होती रही है, जिसकी परिणति इस पुस्तक के रूप में हुई है।''

कबीर पर काफी विस्तार से लिखा गया है। यह करीब चौवन पृष्ठों का निबंध है। शुरू में ही लिखा गया है-''किसी भी रचनाकार की विचारधारा अथवा विचार-चेतना का उद्भव और क्रमिक विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर की विचार-चेतना और उसकी प्रासंगिकता का अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कि उसे प्रचलित तत्कालीन परिस्थितियों के ठोस संदर्भ में देखा जाए और इस बात की छानबीन की जाए कि उक्त परिस्थिति में उनकी सोच समझ, उनकी अनुभव प्रक्रिया और उनके संज्ञान को किस प्रकार प्रभावित किया।''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के हवाले से लेखक ने कबीर का संबंध नाथपंथ से जोड़ा है। नाथपंथियों में भी गृहस्थ लोग थे। वे नाथ पंथी और कबीर धर्म के आडंबर, पाखंड, मतांधता, विलासिता के खिलाफ थे।

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के जरिए उत्तर भारत में विराट जन जागरण आया। लेकिन आलोच्य पुस्तक के लेखक ने सही प्रश्न उठाया है कि वह विफल क्यों हो गया? इसका उत्तर लेखक ने के. दामोदरन की मदद से देने की कोशिश की है। के. दामोदरन की मशहूर और महत्वपूर्ण पुस्तक है 'भारतीय चिंतन परंपरा'। मुरली बाबू ने अपने लेख में दामोदरन की पुस्तक से यह उद्धरण प्रस्तुत किया है- ''भक्ति काल की अपनी सीमाएं थी। यह सच है कि सामूहिक प्रार्थनाओं, नृत्यों और संकीर्तनों से संतों का व्यक्तित्व जनता की सृजनात्मक क्षमता को प्रेरणा प्रदान कर रहा था। उनके व्यक्तित्व में जनता में एक नई चेतना जगाई और क्रियाशीलता के लिए विशाल जनसमुदाय में नई स्फूर्ति पैदा की। उससे सामंतवाद के अंतर्गत फैले जातिवादी और धार्मिक अलगाव को भी खत्म किया। किंतु धर्म के लिए प्रेरणा मूलतः संवेदनात्मक अधिक है, तर्क करने अथवा युक्तिपूर्वक सोचने का अवसर कम मिलता है। अतः धार्मिक भावना न तो सामाजिक समस्याओं के तर्कसंगत विश्लेषण के लिए सक्षम है, न ही इन समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ढूंढ़ निकालने में वह अधिक सफल होती है। वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद असंगतियों के वास्तविक कारणों

को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान पुस्तक करने में सफल नहीं हुआ।'' लेकिन मैं समझता हूं यह बात रह ही जाती है कि वह आंदोलन मानव के दुखों और पीड़ाओं को क्यों नहीं समझ सका? इसका सही उत्तर यह है कि भक्ति आंदोलन ने जनता को जगत का अदृश्य सत्ता के प्रति समर्पित कर दिया। आज का विज्ञान वह बताता है कि वह अदृश्य सत्ता वास्तव में है ही नहीं। यह युग मनुष्य के पुरुषार्थ का है, वह चांद से भी आगे मंगल, बुध, शुक्र आदि के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रहा है। विख्यात विचारक ब्रर्ट्रेंड रसेल ने कहा है कि मनुष्य के पुरुषार्थ के सामने किसी अदृश्य सत्ता को ला खड़ा करना मनुष्य का अपमान है। आलोच्य पुस्तक के लेखक को विज्ञान पर ध्यान देना चाहिए था। समीक्षा के लिए यह जरूरी है। धर्म में सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ती। वह तो आस्था और विश्वास का विषय है। मेरे विचार से विश्वास और अंधविश्वास में कोई फर्क नहीं है। आलोच्य लेखक ने प्रायः ठीक कहा है कि भक्ति काल के अंतिम दौर में उसको रुढ़िवादी परिणति और शास्त्रीय पुरोहितवाद की प्रतिष्ठा हो गई। यह कहना भी सही है कि यह आंदोलन शुरू से ही अंतर्विरोधग्रस्त रहा है। हरिऔध के हवाले से कहा गया है कबीर ने अवतारवाद, देववाद, वर्णाश्रम, धर्म, मूर्तिपूजा, व्रत, उपवास और तीर्थयात्रा का जमकर विरोध किया। तब भी कबीर वैष्णव धर्म की सीमाएं नहीं तोड़ सके। आलोच्य लेखक ने कहा है कि कबीर आज भी जीवंत बने हुए हैं। ''कबीर के साहित्य पर कालदेवता का वश नहीं चलता। वे आज भी पथ-प्रदर्शक बने हुए हैं। लेखक के कबीर की रचनाओं में अनेक उद्धरण देकर अपनी बातों को पुष्ट किया है। भक्ति साहित्य में कबीर से तुलसी तक कुछ समान बातें पाई जाती हैं। अंत में लेखक ने कहा है ''मैं, यह समझना चाहता हूं कि कबीर के काव्य को सामाजिक आलोचना और आध्यामिक वेदना में विभाजित न किया जाए। उनके काव्य मर्म में दोनों तत्व परस्पर गुंथे हैं।'' कबीर के काव्य में दोनों गुंथे हुए हो सकते हैं, लेकिन दोनों में फर्क तो है।

मीरांबाई की कविता

मीरांबाई के काल के बारे में विवाद के बीच लेखक ने कहा है कि उनका जन्म 1504 ई. में मानना ही सही है। उनके पति राणा सांगा के पुत्र भोजराज थे। विवाह के चार-पांच साल बाद ही भोजराज की मृत्यु हो गई। मीरांबाई सती नहीं हुई और कृष्ण भक्ति में विभोर हो गई। उन्होंने बेहिचक कह दिया- 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई।' वास्तव में यह मात्र भक्ति नहीं है, मीरां ने विलक्षण किस्म के दांपत्य का उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने यहां तक कहा -''मेरा पाणिग्रहण भले ही राणाजी (भोज राजा) से हुआ लेकिन पटरानी तो मैं कृष्ण की हूं।'' डॉ. मैनेजर पांडेय के हवाले से कहा गया है- ''यहां महत्व की बात यह है कि स्वतंत्र कामेच्छा उस नृत्य प्रदर्शन से अभिव्यक्त होती है, जिसके द्वारा वह स्वयं को कृष्ण की विद्रोहिणी स्वाधीन प्रजा के रूप में स्थापित करती हैं। पुस्तक में दिया गया एक उद्धरण मैं यहां दे रहा हूं-

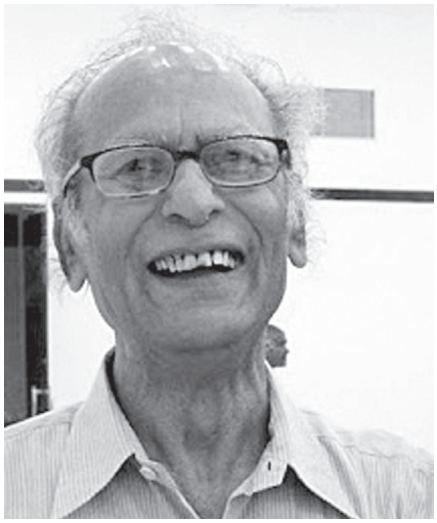

यह 'पांच भक्त कवि' एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति है। इस पुस्तक में लेखक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह द्वारा कबीर, मीरांबाई, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास के काव्य-कौशल पर बहुत अच्छे ढंग से लिखा गया है। ये कवि मध्यकाल के भक्ति आंदोलनों से गहराई से जुड़े रहे हैं।

मैं गिरीधर आगे नाचूंगी।

नाच-नाच प्रिय रसिक रिझाउं प्रेमी जन को जाचूंगी।

प्रेम प्रीत के बांध घुंघरू, सूरत की कछवी काछूंगी

लोक लाज कुल की मरजादा, या मैं एक न राखूंगी।

पिय के पलंग जा पौढूंगी, मीरां हरि रंग राचूंगी।

लेखक कहते हैं, मीरां जिस लोकलाज का परित्याग करती हैं, उसी लोकलाज अर्थात्, पितृसत्ता की मर्यादा की रक्षा करते हुए मैनेजर पांडेय और विश्वनाथ त्रिपाठी मीरांबाई के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं। यह है भक्ति के आध्यात्मिक धार्मिक दृष्टि को हटा कर प्रेम को निरावृत्त देखना। मूरली बाबू कहते हैं कि ''मीरां की कविता में वस्तु जगत बहुत सघन और व्यापक रूप में मौजूद हैं। उनकी कविता में इंद्रिय संवेदनाओं और कामनाओं की अकंठ और निर्बाध अभिव्यक्ति है। मीरां की प्रेम वेदना और विरह व्याकुल तड़प की बात जोर-जोर से करना एक ओर भी हैं, जिस ओर में सामंती समाज की हार्दिक शून्यता, क्रूरता, रीति-रिवाजों के पालन के लिए स्त्री समेत पूरे समाज को उत्पीड़ित करने, सती प्रथा और परदे में स्त्री को रहने के लिए विवश करने के कठोर अनुशासनों के प्रति कवयित्री की विद्रोही चेतना की चर्चा छुपा दी जाती है अर्थात् मीरां के व्यक्तित्व और कृतित्व में दृढ़ता में अंतर्भूत सामाजिकता की बात करने से प्रायः परहेज किया जाता है। लेकिन मीरां का संघर्ष मुखर है और मेवाड़ या मारवाड़ में प्रचलित सामंती प्रथाओं के विरुद्ध वह तन कर खड़ी होती है। मीरां की काव्य भाषा में खड़ी बोली के साथ राजस्थानी, मेवाड़ी आदि का मिश्रण दिखाई पड़ता है, जो महत्वपूर्ण है।

जायसी का काव्य-कौशल

मध्यकालीन कविता के इतिहास में जायसी के काव्य का विलक्षण स्थान है। जायसी पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. माता प्रसाद गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी, परमानंद श्रीवास्तव, रामपूजन तिवारी आदि ने लिखा और इन सबसे कुछ भिन्न नजरिए से विजयदेव नारायण साही ने लिखा है। इन सबका जिक्र करते हुए आलोच्य लेखक कहते हैं- इन सारी पुस्तकों के बावजूद जायसी से संबंधित अनेक गूढ़ प्रश्नों पर किसी ने ठीक से अपना ध्यान केंद्रित नहीं किया है। सूफी मत, हठयोग और तंत्रवाद के पारस्परिक संबंधों से रूपांतरण हो रहा था, उस पर ध्यान नहीं दिया गया है। आचार्य शुक्ल के हवाले से कहा गया है पद्मावती और रत्नसेन का प्रेम लैला-मजनूं, शीरी-फरहाद आदि की अरबी-फारसी की कहानियों से मिलता हुआ लगता है। यह प्रेम पूर्वराग जैसा है। इसके साथ ही आचार्य शुक्ल मानते हैं कि पद्मावत में वर्णित प्रेम लोक-पक्ष से जुड़ा हुआ है।

जायसी की कई विशेषताएं हैं। पद्मावत में चित्रित प्रेम कथा रूपक की तरह है, दूसरी बड़ी बात यह है कि यह महाकाव्य अवधी में लिखा गया है। यानी लोकभाषा या जन-भाषा में। ब्रजभाषा काव्य परंपरा ज्यादा समृद्ध रही है, लेकिन जायसी ने अवधी में लिखा भक्ति काव्य में गुरु की महिमा का बखान प्रायः सभी कवियों ने किया है। कबीर की पंक्ति तो प्रसिद्ध है ही- गुरु गोविंद दोऊ, खड़े का को लागूं पांय। बलिहारी गुरु आपनो गोविंद दियो बताय। 'पद्मावत' में आलोच्च लेखक बताते हैं- चित्तौड़ तन है, राजा मन है, सिंहल हृदय है और बुद्धि पद्मिनी है। सुआ गुरु है जो रास्ता दिखाता है।

गुरु सुआजेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत के निरगुन पावा।।

गुरु के बिना इस जगत में किसी को ज्ञान नहीं मिला हैं। डा. माताप्रसाद गुप्त कहते हैं- ''यदि हम एक बार तसव्वुफ और सूफी आंदोलन की चहारदीवारी को तोड़ कर जिसमें स्वयं हमने जायसी को कैद कर लिया है, उन्हें निकाल सकें तो जायसी में बहुत कुछ ऐसा है जो अपने बेलाग कवि रूप में हमारे लिए महत्वपूर्ण साक्षात्कार का विषय बन सकता है। इस लेखक का यह कथन महत्वपूर्ण है- आख्यान के भिन्न-भिन्न संदर्भों के कारण भक्ति काल के अन्य रचनाओं में जायसी की भिन्नता रेखांकित होती है।

निष्कर्ष के रूप में लेखक ने कहा है- ''नाथपंथ, निर्गुण, संतमत, शैवमत, सिद्ध-संप्रदाय, सहज यान और हठयोग का समाहार करने वाले, राजस्थानी लोक

कथाओं से पद्मावत के कथानक की रचना करने वाले और हिंदुस्तान के लोकसाहित्य से प्रेरणा ग्रहण करने वाले जायसी किसी भी सूफी संप्रदाय के कट्टर समर्थक नहीं थे।'' लेखक का कहना है कि निर्गुण के बारे में कबीर और जायसी के मत एक जैसे हैं। जायसी ने अवधी में लिखा, इसका भी कम महत्व नहीं है।

सूर काव्य का महत्व

सूरदास का मध्यकाल के भक्त कवियों में विशेष महत्व है। ब्रजभाषा में कविता लिखने वाले सूरदास पहले कवि हैं। ब्रज-प्रदेश की संस्कृति सूर-काव्य में प्रमुखता से मूर्त हो गई है। सूरदास का जन्म 1478 ई. में हुआ, ऐसा आमतौर से माना जाता है। इनकी मृत्यु 1577 से 1581 ई. के बीच हुई होगी ऐसा अनुमान विद्वानों ने किया है। लेखक ने सूरदास की परंपरा के बारे प्रश्न उठाया है। मुरली बाबू ने परंपरा के रूप में जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य का उल्लेख किया है। बल्लभाचार्य से सूर की भेंट हुई तो उन्होंने ईश्वर की लीला का गान करने की सलाह दी। इसके बाद सूर का दास्य भाव समाप्त हो गया। सूर-काव्य में कथा-प्रसंग तो हैं, लेकिन 'रामचरित मानस' की वाह सुसंबद्ध और सुश्रृंखलित नहीं है। इसका कारण मैं समझता हूं कि गीत विधा में लिखने के कारण ऐसा हुआ।

जातीय संगीत और नवोत्थान को लेखक ने सूर की विशिष्टता अथवा कबीर, मीरां, तुलसी आदि से भिन्न होने का कारण बताया है। कृष्ण के लोक-रक्षण के लिए किए गए कार्यों का भी चित्रण सूर ने किया है। लेकिन सूर तो वात्सल्य के अनोखे और विशिष्ट कवि हैं। एक प्रश्न मेरे मन में उठता है कि जीवन की दृष्टि से सूर-काव्य का क्या वृहत्तर परिप्रेक्ष्य है। मुझे लगता है कि वात्सल्य की गहरायी तो सूर में है, लेकिन जीवन-प्रसंगों का वृहत्तर परिप्रेक्ष्य उनमें नहीं है। संगीत की परंपरा उनके समय में अवश्य समृद्ध थी। सूर के पदों में भी संगीत का समावेश पूरी तरह है। एक कथन है- ''भक्तिकाल के विवेचन में हिंदी-समालोचना चाहे तो इतिहास के राजनीतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य पर एकांगी रूप से निर्भर कर जाती है।'' प्रश्न उठता है कि इतिहास के राजनीतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य में लिखने में क्या काव्य एकांगी हो जाता है? मेरा उत्तर है- नहीं, वह एकांगी नहीं है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया। उनके बाद उनके दूसरे पुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथ पुष्टि संप्रदाय के आचार्य पद पर आसीन हुए। लेकिन सूरदास वल्लभाचार्य के ही शिष्य माने जाते हैं। विठ्ठलनाथ के शिष्यों में सूरदास कवि रूप में मशहूर हुए। लेखक ने प्रश्न उठाया है कि कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति थे या पुराणकारों की कल्पना से गढ़े गए? कवींद्र रवींद्र ने लिखा है कि राम-कृष्ण या राम-कथा और महाभारत के पात्र कोई वास्तव में हुए नहीं। हमारे महापुरुषों में बुद्ध पहले व्यक्ति हैं जो वास्तव में हुए। यह अलग बात है कि रामायण खास करके महाभारत की कथा का निर्माण कल्पना से ही सही, करना असाधारण बात है। कहा गया है - यन्न भारते, तन्न भारते। जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में ही नहीं है। उल्लेखनीय है कि कृष्ण-भक्ति की परंपरा राम भक्ति से ज्यादा समृद्ध है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि भक्ति काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई वही बाद में ब्रज-क्षेत्र और वृंदावन तक पहुंची। सूरदास समेत सभी कृष्णभक्त कवियों ने राधाकृष्ण की युगल मूर्ति का गायन किया है। वृंदावन की गोपियां 'सगुण' को मानती हैं, कृष्ण भक्ति इसका कारण है। उद्धव और गोपियों के संवाद का जिक्र सूर में भी मिलता है। यह भक्ति काव्य का वैचारिक मामला है। गोपियों ने भावनात्मक दृष्टि से पूछा है-

निर्गुण कौन देस को वासी।

मधवा! हंसि समुझाय, सौंह दै बूझती सांच न हांसी।

इस प्रसंग में भंवरे की उपस्थिति के कारण इसे भ्रमर-गीत भी कहते हैं। आचार्य शुक्ल ने ऐसे गीतों को 'भ्रमर-गीत-सार' में संकलित किया है। इस बातचीत में प्रेम की बड़ी अच्छी व्याख्या की गई है। प्रेम करने वाला मृत्यु की भी परवाह नहीं करता। सूर ने सगुणोपासना का निरूपण अनुभूति के आधार पर किया है, तर्क से नहीं। लेखक ने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह विचार प्रस्तुत किया है कि सगुण-निर्गुण-विवाद में सूर और तुलसी एक तरफ हैं तो नाथपंथी, सिद्ध और संत आदि दूसरी तरफ। यह स्थान महत्वपूर्ण है कि ईश्वर की सर्व व्यापकता भेदभाव से मुक्ति सब तरह के मतों की एकता को लेकर निर्गुण पंथ आगे बढ़ा। ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य मिश्र स्पष्ट शब्दों में ज्ञानमार्गी धारा को 'लोकविरोधी' कहते हैं।

सूरदास पुष्टि मार्गी थे। इसके आचार्य वल्लभाचार्य थे। पुष्टि की व्याख्या ईश्वर-कृपा के रूप में की गई है। वात्सल्य में भी संयोग और वियोग के पक्ष हैं। सूरदास से दोनों पक्षों का चित्रण मिलता है। यह कथन महत्वपूर्ण है कि जयदेव और विद्यापति में भोग-विलास अधिक है और सूरदास में सूक्ष्म गतियां अधिक प्रकट हैं। मुरली बाबू बताते हैं कि सूर की बड़ी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। सूरदास अपने विषय और प्रसंग के अद्वितीय कवि है। बाल लीला, सख्य भाव, रासलीला का अद्भुत चित्रण सूर ने किया है। जाहिर है कि भक्ति आंदोलन में सूर का महत्व उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर सिद्ध है।

तुलसीकाव्य में युग-सदंर्भ

तुलसीदास भक्ति-युग या भक्ति-काव्य के ही नहीं समस्त हिंदी कविता के इतिहास में सबसे बड़े कवि हैं। इसके अनेक कारण हैं, लेकिन कवित्व सबसे बड़ा कारण है। आलोच्य लेखक ने ठीक ही कहा है कि ''एक कमी वो समझने के लिए उसकी विचारधारा और दृष्टिकोण को समझना इसलिए जरूरी है कि कवि समग्र रूप से समाज और समाज के वंचित और हाशिए पर खड़े लोगों, जैसे-स्त्री, दलित आदि के बारे में क्या सोचता है। क्या उसकी सोच अपने समय से आगे बढ़ पाई है। क्या उसके समकालीन रचनाकार कुछ भिन्न ढंग से सोच रहे थे? क्या उस समय के कवि को आज के मापदंड का कसना उचित है। इन सब प्रश्नों को सामने रख कर ही किसी कवि या रचनाकार का संतुलित और विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है।'' यह कहना भी सही है कि ''किसी कवि को समझने के लिए नए युग को जानना जरूरी होता है। इससे यह जानने मे सहूलियत होती है कि रचनाकार ने अपने युग के यथार्थ को कितनी ईमानदारी से प्रस्तुत किया है! इससे समाज के प्रति दृष्टिकोण का भी पता चलता है।'' प्रश्न यह भी उठता है कि किसी रचनाकार ने अपने युग के यथार्थ को कैसे ग्रहण किया है और उसे ग्रहण करने के पीछे का उद्देश्य क्या है? रचना के उद्देश्य से भविष्य के प्रति रचनाकार के रुख का भी पता चलता है। इन प्रश्नों से निकलने वाली बातों के आधार पर रचनाकार को परखने से रचनाकार के ऐतिहासिक एवं कलात्मक महत्व का भी स्पष्टीकरण होता है। यह कहा जा चुका है कि महाकवि तुलसीदास मध्य युगीन यथार्थ के प्रतिनिधि कवि तो हैं ही, काल के साथ बदलती कविता के साथ आने वाले रचनाकारों के लिए भी आदर्श हैं।

आलोच्य लेखक ने यह महत्वपूर्ण बात कही है- ''मध्यकाल के हिंदी भाषी क्षेत्र में संतों की गायी जाने वाली बानियां और पदावलियां कृष्ण भक्तों की रासलीला और राम-भक्तों की राम-लीला विभिन्न जनपदों के सांस्कृतिक जीवन-स्पंदन की ठोस अभिव्यक्तियां हैं। उस युग का कोई भी रचनाकार इनसे कट कर या अप्रभावित रह कर जीवन रचना कर ही नहीं सकता था।''

आलोच्य लेखक ने यह महत्वपूर्ण बात कही है- ''मध्यकाल के हिंदी भाषी क्षेत्र में संतों की गायी जाने वाली बानियां और पदावलियां कृष्ण भक्तों की रासलीला और राम-भक्तों की राम-लीला विभिन्न जनपदों के सांस्कृतिक जीवन-स्पंदन की ठोस अभिव्यक्तियां हैं। उस युग का कोई भी रचनाकार इनसे कट कर या अप्रभावित रह कर जीवन रचना कर ही नहीं सकता था।'' यह है युग के यथार्थ की प्रेरणा, उसे रचनात्मक दबाव भी कहा जा सकता है। यथार्थ के नायक विभिन्न रूपों में वर्णित या चित्रित हैं। इसी सिलसिले में कुछ और पंक्तियां प्रस्तुत हैं। ''दरअसरल दुख दैन्य से मुक्ति दिलाने वाले अपने युग के नायक को खोज तुलसीदास को जनमन में बसे लोकख्यात वृत्त की ओर ले जाती है। एक सृजनशील कृतिकार के नाते अपने चरित नायक को जिस विचार भूमि पर वे प्रतिष्ठित करते हैं, उससे उनकी वैचारिक सीमा और असंगतियों वे साथ-साथ उनकी महान कलात्मक प्रतिभा और गहरी संवेदनशीलता का भी परिचय मिलता है। 'रामचरितमानस' इस दृष्टि से गोस्वामीजी की प्रतिनिधि रचना हैं''

तुलसी की जो व्याख्या की गई है, उससे यह स्पष्ट होता है कि तुलसी के बहुतेरे कथन लोकजि'ा पर क्यों रहते हैं और रामचरितमानस जन-जन का कंठहार क्यों बना हुआ है।

कथा का सौंदर्य शास्त्र और भोपाल

बलराम

कथाकार

संपर्क :
सी-69, उपकार अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेज-1,
दिल्ली-110091

'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में प्रभाकर श्रोत्रिय की कलम से निकला हर वाक्य कृति और कृतिकार पर आत्मीय आभा फेंकता है। आलोचकीय आग्रह इतना भर है कि उन स्थितियों को पकड़ा जा सके, जिनके इर्द-गिर्द रचना का सृजन हुआ और फिर उसके नख-शिख को समाज, राजनीति और अंततः मानव मन के स्तर पर परखा जा सके। इसी के चलते प्रभाकर श्रोत्रिय अगर कहीं कटु और तुर्श भी हुए तो सिर्फ आलोचक की ईमानदारी और मर्यादा को बचाए रखने के लिए। ऐसे समय में जब आलोचना पूर्वाग्रहों का बदशक्ल चेहरा बन चुकी है, प्रभाकर श्रोत्रिय की आलोचना कृति 'कथा सौंदर्य शास्त्र' ईमानदार छांव की तरह संतोष की सांस लेने का उपक्रम रच रही है।

अपनी आखिरी किताब 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में प्रख्यात आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय ने कथाकार मनोहरश्याम जोशी के असामयिक निधन पर लिखा है: ''मनोहरश्याम जोशी स्पैनिश कथाकार बोर्खेज के किसी पात्र की तरह अदृश्य हो गए। पहले तो यही समझ में न आया कि यह यथार्थ है या वायवी यथार्थ। जब तक समझ में आया, वे गंगा में नहाकर यमुना में बिखर चुके थे। वे सिर से पांव तक मनोहर थे, श्याम की तरह नटखट, चुटीले-चुटकी-ले, जोशी-ले अलग से, हरदम किसी नए विचार से दमकते। विडंबना और छल-छद्म भरी दुनिया के बीचोबीच अपनी तर्जनी पर सुदर्शन चक्र घुमाते। पता नहीं, उससे कभी कोई मरा भी या यों ही वह उनकी मुद्रा भर थी, लेकिन उनकी उस मुद्रा से चमका हर कोई। मनोहर श्याम-यथा नाम तथा गुण। मनोहर और श्याम। एक साथ।

''हद है कि धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, श्राद्ध-व्रत से गुरेज नहीं, कुछ हद तक आस्थावान कहें तो हर्ज नहीं, क्योंकि हद से ज्यादा इसलिए नहीं कहते बनता कि लेखन में सामिष, किसी हद तक पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की जात के घामड़ और धाकड़ 'हमजाद' और 'हरिया हरक्यूलीस...' के सर्जक और इश्क के बिलकुल पेज थ्री फार्मूले की गांठ खोलने में माहिर आध्यात्मिक आत्मिक-अदैहिक जैसा कोई फर्जी प्रेम नहीं। दिमाग चकरा देने वाली विविधता। आधुनिक 'मॉल्स' की तरह एक छत के नीचे पूरी दुनिया, सारे शौक-सौदे। एक आदमी की कल्पना 'मॉल' की तरह की जाए तो लगेगा तो बेतुका, मगर साहब, जोशीजी इतने यथार्थवादी, अति आधुनिक, हिंदी में सोप ऑपेरा से उत्तर आधुनिक रचनाओं तक के जनक, विखंडनवाद के साथ 'बैठी होली' जैसा अभिनव विखंडनवाद दिल्ली में आविष्कृत करते ठहरे। किस विधा, किस फन में माहिर नहीं? राष्ट्रपति से लेकर हरिया तक, सब उनकी दूकान में और हां, हजारीप्रसाद द्विवेदी भी। भाषाओं की इतनी दुकानें कि जो चाहें, जहां से उठा लें।

''पिछले पचास बरस में हिंदी ने प्रतिभा का ऐसा अजूबा नहीं देखा, अर्से तक लगता रहा कि 'प्रज्ञा' की यह 'प्रतिभा' वाली पारंपरिक सूक्ति विफल है- 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' यहां तो ऐसा है कि अगर गलती से भी कहीं से कुछ नया आ जाता है तो उसके नवोन्मेष की बात तो छोड़ दें, लोग उसका ही घोट-घोटकर कचूमर बनाते रहते हैं। नए विचार और जमाने भर की लप्प-गप्प तो ठीक है, भीतर कोई चीज रचे, तब तो रचना में बसे। मनोहरश्याम जोशी ऐसे आत्म मग्न नहीं रहते थे। चीजों को पचाते और फिर हिम्मत से उसे रचते थे। शायद इसीलिए तमाम गिरोहबंदियों के बावजूद हिंदी साहित्य में वे देर तक बने रहेंगे।

''हिंदी का जातीय चरित्र है कि जो जिंदा है, उसमें हजार

पुस्तक:
कथा का सौंदर्य शास्त्र
लेखक:
प्रभाकर श्रोत्रिय
प्रकाशक:
अमन प्रकाशन, कानपुर
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ: 176
मूल्य: ₹ 400

अरविंद वाजपेयी से प्रभाकर श्रोत्रिय की अप्रकाशित किताब 'कथा का सौंदर्यशास्त्र' की चर्चा हुई तो उनके घर जाकर वे उनकी वह पांडुलिपि ले आए। श्रोत्रिय जी होते तो शायद अभी भी अनुपलब्ध समीक्षाएं मिलने और पांडुलिपि को अपडेट करने के चक्कर में पड़े होते। ऐसा होता तो निश्चित रूप से बेहतर होता।

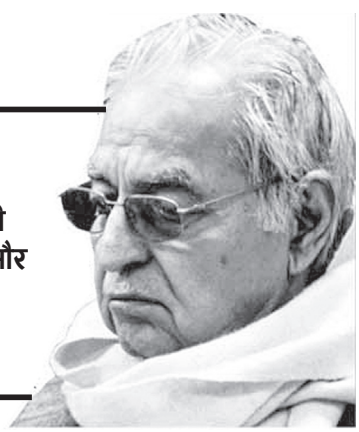

खोट, बल्कि 'नारकीय' और जो चल बसा, वह निश्चित ही 'स्वर्गीय'। लोग कल तक तो हर मान-सम्मान, आलोचना-समालोचना, पुरस्कार-पद में टांग अड़ाते रहे और 73 साल की उम्र तक साहित्य अकादेमी पुरस्कार को घसीटकर आगे ले जाते रहे। बाद में कहने लगे कि वे महान, अप्रतिम, विलक्षण, घिसे-पिटे यथार्थ को मटियामेट कर हिंदी साहित्य में नई हवा लाने वाले लेखक रहे। विडंबना के लेखक के साथ विडंबना देखिए कि 73 की उम्र में उन्हें 37 साल का समझ कर साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिया गया, जबकि इसके लायक तो वे न जाने कब से थे।

''बहरहाल, जो है, सो है। वे जितने नए थे, थे। जितनी तरह के कौतुक और विडंबनाएं लिखते थे, खुद उससे कम नहीं थे। जितने अच्छे थे, जितने स्वीकार्य थे, जितने अस्वीकार्य थे, थे। जीवित मनोहरश्याम जोशी के साथ जो अव्याप्ति की गई, वह अगर दिवंगत जोशी की अतिव्याप्ति में बदलेगी तो वे खुद खिल्ली उड़ाने के लिए आ धमकेंगे और पूछेंगे, ''आपकी सेहत तो ठीक है न बौज्यू?''

उनकी लैंड लाइन तो कट गई, मगर मोबाइल चालू रहेगा। वे इलेक्ट्रॉनिक कानों से सुनते रहेंगे और जादुई आंखों से चित्र भी उतारते रहेंगे। अतियों से परे जब उनकी प्रतिभा के अवदान का ईमानदार मूल्यांकन होगा तो शाबासी देते हुए कहेंगे, ''चलो, अब तो तुम्हें अकल आई?''

साहित्य अकादेमी पुरस्कार घोषित होने के बाद उसे ग्रहण किए बिना चले गए मनोहरश्याम जोशी के लिए प्रभाकर श्रोत्रिय ने श्रद्धांजलि देते हुए ऐसा शायद ठीक ही लिखा था, लेकिन विडंबना के सर्जक को ऐसी श्रद्धांजलि अर्पित करने वाले प्रभाकर श्रोत्रिय के जीवन की विडंबना देखकर तकलीफ होती है। जोशीजी से भी बड़ी त्रासदी में फंसे रहे वे। जैसे जोशीजी बहुत पहले साहित्य अकादेमी पुरस्कार पाने के योग्य हो गए थे, वैसे ही प्रभाकर श्रोत्रिय भी, बल्कि उनके लिए तो उनसे भी ज्यादा अवसर बनते थे। उन्हें तो नाटकों के लिए संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार भी मिल सकता था, कथाकार मोहन राकेश की तरह। दोनों अकादमियों के पुरस्कारों के लिए उनका नाम बार-बार चर्चा में आया, लेकिन मिला एक भी बार नहीं।

नासिरा शर्मा के उपन्यास 'पारिजात' को जब साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला, जूरी ने प्रभाकर श्रोत्रिय और रमेश कुंतल मेघ की किताबों पर भी विचार किया था। मेघ को तो अगले वर्ष मिल भी गया, लेकिन प्रभाकर श्रोत्रिय चले गए, बिना पाए। सब मनोहरश्याम जोशी की तरह भाग्यशाली नहीं होते। वे साहित्य अकादेमी पुरस्कार लेकर गए और प्रभाकर श्रोत्रिय यह संतोष लेकर कि उस पुरस्कार के लायक वे समझे तो गए आखिर! 'भारत में महाभारत' के लिए वे ज्ञानपीठ के 'मूर्तिदेवी पुरस्कार', बिड़ला के 'व्यास सम्मान' और उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के 'हिंदी गौरव सम्मान' के सुपात्र थे, लेकिन अकूत सृजन के बावजूद उन्हें कहां कुछ मिल सका!

भारतीय ज्ञानपीठ वाले दिनों में अपनी किताब 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' की रूपरेखा बनाने के लिए

'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में प्रभाकर श्रोत्रिय का गहन-गंभीर कथा पाठ प्रतिध्वनित हुआ है। अपने वृहत्तर आलोचना कर्म में उन्होंने कृति केंद्रित आलोचनात्मक काम अपेक्षाकृत कम ही किए। कृति या रचनाकार केंद्रित कथा साहित्य में उनकी आलोचना इस प्रवृत्ति की द्योतक है कि उन्होंने नियमित रूप से कथा आलोचना का काम नहीं किया।

उन्होंने एक दिन साउथ दिल्ली वाले घर भोजन पर आमंत्रित कर लिया। मूलतः कविता के आलोचक होने के नाते कथा आलोचना की अपनी इस किताब के प्रकाशन को लेकर वे बहुत उत्सुक नहीं दिखे। वह तो बार-बार के हमारे आग्रह का मान रखने के लिए कथा साहित्य पर लिखे अपने आलेख उस दिन एक अलग फाइल में रख जरूर लिये, लेकिन उसे प्रकाशन के लिए देना लगातार टालते रहे, क्योंकि वैसे कुछ और आलेख उन्होंने लिखे थे, जो छपे-अनछपे किसी भी रूप में उन्हें मिल नहीं पा रहे थे। चालीस बरस के विभिन्न काल खंडों में तात्कालिक दबाव में लिखे गए समीक्षात्मक लेखों को पुस्तक रूप देने से पहले उन्हें अच्छी तरह संपादित और अपडेट कर देना चाहते थे। पहले ज्ञानपीठ और फिर साहित्य अकादेमी में संपादन की बड़ी जिम्मेदारियां संभालते हुए उन्हें न तो अनुपलब्ध को उपलब्ध करने का अवकाश मिल सका, न ही पांडुलिपि को संपादित और अपडेट करने का। और फिर असाध्य बीमारी ने उनसे काम करने की शक्तियां ही छीन लीं। सो, उनके जीते जी 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' छपने से रह ही गई। अपने लेखन के प्रति वे ऐसे ही रहे।

प्रभाकर श्रोत्रिय जब तक भोपाल रहे, वहां हमारा दिल बसता रहा, लेकिन भोपाल में आत्महत्या कर मित्र मनीष ने हमारे दिल के उस शहर को ध्वस्त कर दिया। बाद में अरुण तिवारी, संतोष चौबे और उर्मिला शिरीष ने हमारे लिए भोपाल को नए सिरे से सिरजा तो वहां आना-जाना फिर शुरू हुआ।

अर्से बाद भोपाल में साहित्यिक पत्रकारिता पर हुए सेमिनार में एक सत्र की अध्यक्षता के लिए संतोष चौबे ने बुलाया, जिसमें 'जनसत्ता' के ओम थानवी और 'कथादेश' के हरिनारायण भी शामिल हुए थे। सेमिनार के अगले दिन 'प्रेरणा' के संपादक अरुण तिवारी ने हमारी किताब 'माफ करना यार' पर सप्रे संग्रहालय में विचार गोष्ठी रखकर कथेतर गद्य के हमारे सफर को यादगार बना दिया। इससे पहले भारत भवन में हुए लघु पत्रिकाओं के सेमिनार में भाग लेने भोपाल गया था, जहां हरिनारायण ने 'कथादेश' के सफर पर भावुक व्याख्यान देकर अपने साथ हम सबकी आंखें गीली कर दी थीं।

ठीक से याद नहीं, लेकिन वह शायद उन्नीस सौ चौरासी का 15 नवंबर था, जब न्यू मार्केट के होटल से मिलने के लिए प्रभाकर श्रोत्रिय को फोन किया तो वार्ता में सहसा बोल गए, ''सामान पैक कीजिए। होटल पहुंच रहा हूं।'' समझ में नहीं आया कि सामान पैक करने की बात क्यों कह रहे हैं। आधे घंटे बाद होटल आए और सामान समेत हमें अपने घर 'उठा' ले गए। अगले दिन जब दिल्ली के लिए चले तो स्टेशन पर विदा करते हुए बोले, ''अब से जब कभी भोपाल आइए तो होटल में ठहरने की बात सोचिएगा भी नहीं।'' ऐसा कहते उनके चेहरे की उस मृदुल मुस्कान की स्मृति अब भी दिल में हलचल मचा देती है। वे सचमुच वैष्णव मानुष थे, एकदम देव रूप। ऐसी निश्छल और मृदुल हंसी के साथ रूप-सुरूप के मामले में उनके साथ रखने के लिए सिर्फ और सिर्फ अज्ञेय याद आते हैं। जब तक प्रभाकर श्रोत्रिय भोपाल रहे, दसियों बार वहां जाना हुआ और उनका आशियाना हमारा शरण्य हो जाता रहा। भोपाल का उनका सरकारी आवास छोटा जरूर था, लेकिन श्रोत्रिय दंपत्ति का दिल बहुत बड़ा रहा, जिसमें हमारे जैसे अनेक लोग बसते रहे।

प्रभाकर श्रोत्रिय ऐसे आलोचक रहे, जिन्होंने वाम और दक्षिण, दोनों को अपने हाथों की तरह लिया। उनके पास कलावाद और प्रगतिशीलता, दोनों के लिए गुंजाइश थी, पर दल और बल वाले लोग उनकी उस सदाशयता को कभी समझ ही नहीं सके। कोई भी सच्चा और अच्छा सर्जक विचारधारा की बेड़ियो को कभी मंजूर नहीं करता, न सच्चा लेखक इस मुगालते में जीता है कि विचारधारा उसे बड़ा लेखक सिद्ध कर देगी। सर्जक को औसत से बड़ा लेखक तो उसका सृजन ही बनाता है।

'सारिका' और 'धर्मयुग' में छपते ही प्रभाकर श्रोत्रिय मेरी कहानियों के प्रशंसक हो गए थे और मेरे कथा आलोचक रूप की सराहना भी दिल खोलकर करते थे। जिस भी पत्रिका में रहे, लिखने के लिए आग्रह करते रहे। 'अक्षरा' में उन्होंने 'सामना' और 'आवागमन' जैसी लंबी कहानियां छापीं, जिनमें से 'आवागमन' उस अंक में छपी थी, जिसमें शिवप्रसाद सिंह की लंबी कहानी थी। लंबी होने के कारण अंक में सिर्फ दो कहानियां अंट सकीं। अपने साथ मेरी कहानी के नत्थी होने से शिवप्रसाद सिंह ने श्रोत्रिय जी से किंचित नाराजगी का इजहार किया तो उन्होंने उनसे पूछ लिया, ''आपने बलराम की कहानियां पढ़ी हैं?'' उनके नकार पर कोई कहानी पढकर ही राय जाहिर करने का अनुरोध उनसे किया था श्रोत्रिय जी ने। उसके बाद तो हम शिवप्रसाद सिंह के प्रिय पात्रों में शुमार हो गए।

जिन दिनों प्रभाकर श्रोत्रिय मानसिक रूप से हाल-बेहाल थे, हमने उन पर केंद्रित मंडला (मध्य प्रदेश) के नैनपुर में 'कान्हा प्रसंग' किया था। उस पर केंद्रित किताब 'कान्हा प्रसंग' भी निकाली थी, जो प्रभाकर श्रोत्रिय के जीवन और सृजन पर केंद्रित पहली प्रकाशित किताब थी।

वह चाहे 'अक्षरा' के संपादक रहे, 'वागर्थ' या

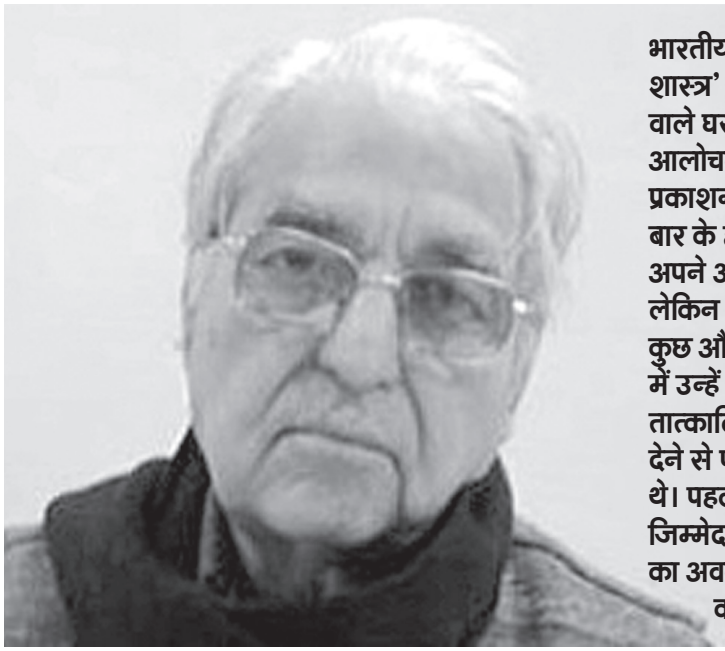

भारतीय ज्ञानपीठ वाले दिनों में अपनी किताब 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' की रूपरेखा बनाने के लिए उन्होंने एक दिन साउथ दिल्ली वाले घर भोजन पर आमंत्रित कर लिया। मूलतः कविता के आलोचक होने के नाते कथा आलोचना की अपनी इस किताब के प्रकाशन को लेकर वे लेकिन बहुत उत्सुक नहीं दिखे। वह तो बार-बार के हमारे आग्रह का मान रखने के लिए कथा साहित्य पर लिखे अपने आलेख उस दिन एक अलग फाइल में रख जरूर लिये, लेकिन उसे प्रकाशन के लिए देना लगातार टालते रहे, क्योंकि वैसे कुछ और आलेख उन्होंने लिखे थे, जो छपे-अनछपे किसी भी रूप में उन्हें मिल नहीं पा रहे थे। चालीस बरस के विभिन्न काल खंडों में तात्कालिक दबाव में लिखे गए समीक्षात्मक लेखों को पुस्तक रूप देने से पहले उन्हें अच्छी तरह संपादित और अपडेट कर देना चाहते थे। पहले ज्ञानपीठ और फिर साहित्य अकादेमी में संपादन की बड़ी जिम्मेदारियां संभालते हुए उन्हें न तो अनुपलब्ध को उपलब्ध करने का अवकाश मिल सका, न ही पांडुलिपि को संपादित और अपडेट करने का।

'नया ज्ञानोदय' के, हमेशा पत्रिकाओं के सम्मानार्थ अंक भिजवाते रहे। हमने उनकी पत्रिकाओं में चाहे लिखा या नहीं लिखा, लेकिन महीने दो महीने में कुछ भेज देने के आग्रह भरे पत्र आते ही रहे। एक बार साहित्य अकादेमी के अपने कक्ष में चाय पिलाने के बाद झुंझलाकर पूछ बैठे, ''साहब, आप कमाल के आदमी हैं। इतनी चिट्ठियां लिखने के बावजूद आपसे हमें कुछ मिलता-मिलाता नहीं और आपके दोस्तों की रचनाएं फाइलों को मोटा किए रहती हैं। आज तो आप यह बता ही दीजिए कि अपनी रचनाएं हमें देते क्यों नहीं?''

तब हमने उनसे कहा था कि इन दिनों ज्यादातर कथेतर गद्य लिखता रहा हूं, जो 'नया ज्ञानोदय' या 'समकालीन भारतीय साहित्य' जैसी निरामिष पत्रिकाओं में आप छापते तो संकट में पड़ जाते और नहीं छाप पाते तो लौटाते हुए संकट महसूस करते। मैं आपको किसी भी तरह के संकट में फंसाना नहीं चाहता रहा।

सुनकर उनके चेहरे पर वैसी ही मृदुल मुस्कान खिली थी, जिसे देखकर दिल में कुछ-कुछ होने लगता था। 'समकालीन भारतीय साहित्य' में 'गोआ में तुम', 'माफ करना यार' और 'धीमी-धीमी आंच' जैसी मेरी कई किताबों की समीक्षाएं उन्होंने छापी थीं। उनके आग्रह की रक्षा करने के लिए उनकी दी हुई कुछ किताबों की समीक्षाएं लिखकर भी उन्हें दीं, जिन्हें भी उन्होंने सहर्ष छापा था।

अंतिम दिनों में लेकिन प्रभाकर श्रोत्रिय की लैंड लाइन ही नहीं, मोबाइल तक मूक हो गया था। उनकी बीमारी के दौरान बार-बार फोन कर बात करने की कोशिशें कीं तो रिंग बेशक जाती रही, पर फोन नहीं उठा। कभी-कभी हालात ही ऐसे हो जाते हैं कि चाहकर भी आदमी कुछ कर नहीं पाता। जीवन के आखिरी दिनों में उनकी स्थिति कुछ ऐसी हो गई थी कि कब दिल्ली में हैं, कब भोपाल में, कब घर में हैं और कब, कहां और किस अस्पताल में, उनसे मिलने जाते तो कहां जाते। अपना स्वास्थ्य भी उन दिनों कुछ ऐसा ही चल रहा था कि धूप में आना-जाना एकदम मना था। चाहते हुए भी आखिरी दिनों में उनसे मिल नहीं सके। भोपाल में इलाज की खबर लखनऊ में मुलाकात होने पर व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी ने दी थी, लेकिन उसके बाद ब्लैक आउट। निधन के बाद पता चला कि उनकी इच्छानुसार अंत्येष्टि हरिद्वार में होनी है और उन्हें लेकर परिवार के लोग वहीं चले गए हैं। सो, कमलेश्वर और कामतानाथ जैसे प्रिय अग्रजों की तरह प्रभाकर श्रोत्रिय की अंत्येष्टि में भी हम शरीक नहीं हो सके। हां, साहित्य अकादेमी में हुई शोक सभा में कुछ शब्द कह पाने का अवसर जरूर मिल गया था।

अरविंद वाजपेयी से प्रभाकर श्रोत्रिय की अप्रकाशित किताब 'कथा का सौंदर्यशास्त्र' की चर्चा हुई तो उनके घर जाकर वे उनकी वह पांडुलिपि ले आए। श्रोत्रिय जी होते तो शायद अभी भी अनुपलब्ध समीक्षाएं मिलने और पांडुलिपि को अपडेट करने के चक्कर में पड़े होते। ऐसा होता तो निश्चित रूप से बेहतर होता।

बहरहाल, 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में प्रभाकर श्रोत्रिय का गहन-गंभीर कथा पाठ प्रतिध्वनित हुआ है। अपने वृहत्तर आलोचना कर्म में उन्होंने कृति केंद्रित आलोचनात्मक काम अपेक्षाकृत कम ही किए। कृति या रचनाकार केंद्रित कथा साहित्य में उनकी आलोचना इस प्रवृत्ति की द्योतक है कि उन्होंने नियमित रूप से कथा आलोचना का काम नहीं किया। वैसे भी समकालीन साहित्य का प्रस्तुतीकरण उनके समग्र लेखन में कम ही हुआ, मगर तथ्य यह भी है कि समकालीन कृतियों से वह हरदम बाखबर रहे। प्रेमचंद्र, जैनेंद्र, नरेश मेहता, गिरिराज किशोर, गोविंद मिश्र, राजेंद्र यादव, चित्रा मुद्गल और राजी सेठ जैसे सिद्ध-प्रसिद्ध सर्जकों पर उनकी आलोचना 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में है तो राजकुमार गौतम, धीरेंद्र अस्थाना, सूर्यकांत नागर और राजेंद्र मिश्र जैसे लगभग अलक्षित कथाकारों पर भी उन्होंने लिखा है, जिसे आलोचना की ऊष्मा भरी अंतर्यात्रा कह सकते हैं। आलोचक के रूप में उनकी अंतर्दृष्टि और अचूक विश्लेषण क्षमता ने 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' को कथा आलोचना की एक मूल्यवान कृति बना दिया है।

हिंदी आलोचना के ढुलमुल रवैये के दलदल से दूर हिंदी कथा साहित्य का यह अध्ययन पारदर्शी आलोचना मूल्यों की स्थापना का गंभीर उद्यम है। 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' से गुजरते हुए पाठक को पता चलता है कि किसी कृति की देह और आत्मा को देखने के लिए किस रंग, आयाम और दृष्टि की जरूरत होती है। यह तभी संभव हो पाता है, जब रचना की आलोचना भी 'रचना' होने लगती है। 'कथा का सौंदर्य शास्त्र' में प्रभाकर श्रोत्रिय की कलम से निकला हर वाक्य कृति और कृतिकार पर आत्मीय आभा फेंकता है। आलोचकीय आग्रह इतना भर है कि उन स्थितियों को पकड़ा जा सके, जिनके इर्द-गिर्द रचना का सृजन हुआ और फिर उसके नख-शिख को समाज, राजनीति और अंततः मानव मन के स्तर पर परखा जा सके। इसी के चलते प्रभाकर श्रोत्रिय अगर कहीं कटु और तुर्श भी हुए तो सिर्फ आलोचक की ईमानदारी और मर्यादा को बचाए रखने के लिए। ऐसे समय में जब आलोचना पूर्वाग्रहों का बदशक्ल चेहरा बन चुकी है, प्रभाकर श्रोत्रिय की आलोचना कृति 'कथा सौंदर्य शास्त्र' ईमानदार छांव की तरह संतोष की सांस लेने का उपक्रम रच रही है। बेशक अब वे सदेह यहां नहीं हैं, लेकिन अपनी कृतियों से वे देर तक और दूर तक हमारे साथ बने रहेंगे।

उपन्यास

अनुभवों का विराट दरिया

प्रेमपाल शर्मा

साहित्यकार

संपर्क :
96 कलाविहार अपार्टमेंट,
मयूर विहार फेस-1
दिल्ली-110091

मधु कांकरियां बहुविध लेखिका हैं। उन्होंने लगातार और कई विधाओं में लिखा है। जनसत्ता का कॉलम हो या यात्रा विवरण, कहानियां और बड़े-बड़े उपन्यास भी। 'हम यहां थे' इनका छठा उपन्यास है। वैसे तो इनके जीवन के अपने अनुभव भी कम नहीं हैं लेकिन कहानी उपन्यास की, किसी विशेष विषय-वस्तु को जानने, पाठकों को बताने के लिए उसकी तह में जाकर भी कथा पूरी करती हैं। 'हम यहां थे' उपन्यास के पीछे लगभग आत्मकथा के विवरणों, अनुभवों का दबाव है। उसमें भी सबसे चमकीली लकीर स्त्री की स्थिति है। राजस्थान से कटकर कोलकता में जा बसे मध्यवर्गीय परिवार की दैनंदिन जीवन के विवरण ही भारतीय स्त्री की करुण कथा उपन्यास का रूप ले लेते हैं।

मधु कांकरियां बहुविध लेखिका हैं। उन्होंने लगातार और कई विधाओं में लिखा है। जनसत्ता का कॉलम हो या यात्रा विवरण, कहानियां और बड़े-बड़े उपन्यास भी। 'हम यहां थे' इनका छठा उपन्यास है। वैसे तो इनके जीवन के अपने अनुभव भी कम नहीं हैं लेकिन कहानी उपन्यास की, किसी विशेष विषय-वस्तु को जानने, पाठकों को बताने के लिए उसकी तह में जाकर भी कथा पूरी करती हैं। 'हम यहां थे' उपन्यास के पीछे लगभग आत्मकथा के विवरणों, अनुभवों का दबाव है। उसमें भी सबसे चमकीली लकीर स्त्री की स्थिति है। राजस्थान से कटकर कोलकता में जा बसे मध्यवर्गीय परिवार की दैनंदिन जीवन के विवरण ही भारतीय स्त्री की करुण कथा उपन्यास का रूप ले लेते हैं। उसमें भी अगर शादी के बाद कोई स्त्री पति के अत्याचारों, क्रूरताओं से बचकर मायके वापस आ जाए तो कहना ही क्या। अचानक नहीं है कि इक्कीसवीं सदी के भारत में विशेषकर हिंदी भाषी समाज में जितनी लड़कियां आत्महत्या या जलकर जान देती हैं उतनी दुनियाभर में कही नहीं। पिछले दिनों तीन तलाक के संदर्भ में पूरे देश में ठीक ही हो हल्ला मचा था, लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं कि हिंदू कोड बिल के बाद हिंदू समाज में स्त्री की स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन आ गया हो। धर्म, परपंराओं की मकड़-जाल है ही इतनी जटिल कि उसे किसी बड़ी सामाजिक क्रांति से ही भस्मीभूत किया जा सकता है।

उपन्यास में दीपशिखा की डायरी के नाम से लिखे विवरण किसी की भी आत्मा को हिला सकते हैं। देखा जाए तो दीपशिखा की अम्मा वह छांव दे सकती थी लेकिन नहीं उनकी क्रूरता सबसे ऊपर है। कोई घर में आए तो सामने नही आना। क्यों? किसी को पता भी नहीं चले कि लड़की शादी के बाद वापस आ गई है। लेकिन घर की ताई ही उस भेद को जानते और दुनिया को बताने में सबसे आगे और चालाक हैं। वे नन्हें बच्चे से पापा के बारे में पता लगा लेती हैं। बस सारी दुनिया में फैलाने को पर्याप्त। केवल घर, रिश्तेदारों से ही नहीं, मुहल्ले से भी इतना ही भयभीत। छत पर नहीं जाना, बरामदें में नहीं खड़ा होना। कोलकाता में रहती हैं इसलिए परदा तो नहीं है वरना राजस्थान, उत्तर प्रदेश से लेकर पूरे हिंदी प्रदेश परदा घूंघट, बुर्के के एक और अंधेरे में आधी आबादी को डुबोए हुए हैं। क्या सत्तर साल की आजादी के बाद भी पूरे जोर से ऐसी दीवारों को ढहाया गया? दोनों समाजों में और तो और अलीगढ़ विश्वविद्यालय में दो बरस पहले लड़कियों को लाइब्रेरी में जाने के लिए आंदोलन करना पड़ा था। कहने को तो वहां हर तरह के विश्व प्रसिद्ध कॉमरेड, महंत, पंडित, आचार्य सभी थे। स्वतंत्रता, बराबरी भ्रातृत्व जैसे शब्द तो फ्रांसीसी, अमेरिकी, रूसी क्रांति से रिसरिसकर भारतीय भूमि पर आ गए, परदा, घूंघट बुर्का तो नहीं आए न? इसलिए हम क्यों इनके खिलाफ लड़ें।

दीपशिखा का रंग सांवला है। यह और अक्षम्य अपराध, पाप है लड़की का। दुनिया में सबसे ज्यादा रंगभेदी भारतीय ही हैं। ऐसा काले रंग वाले अफ्रीका के सभी नागरिकों का मानना है। उनका मानना है कि अमेरिका यूरोप के गोरी चमड़ी वाले भी उनसे इतना नहीं चिढते, बचते जितने गेहुंआ रंग वाले या थोड़े कम काले भारतीय। हर क्षण तिनका तिनका बिखरा रहता है मन दीपशिखा का। 'काश' मैं इस घर की बेटी नहीं होती। चाहे कुछ भी हो जाती-चूहा, बिल्ली, भेड़, बकरी। एम.ए. पास कर ली तो उसे भी शादी के व्यापार में जरूरत पड़ने पर छिपाया गया। कम पढ़ी है तो मुश्किल; ज्यादा है तो परिवार के अनुरूप चल भी पाएगी या नहीं। (पृ.सं. 13)

पूरे उपन्यास का केंद्रीय सच इसी स्त्री की पीड़ा का बखान है। उसके कितने ही रूप हैं। जब उसका नाम तबलीन है तो सरदार पति उसे कैसे सिर्फ देह मानता है? उसकी भावनाओं की कोई कद्र नहीं। 'चल दो मिनट में/चुटकी बजाते ही/उसे असली मरद-बच्चा तभी माना जाएगा।' मां-बाप दीपशिखा के हो या तवलीन के सभी एक से क्रूरता, गैर बराबरी के एक से सांचे में ढले। कितने ही किस्से गुंथे हैं पूरे उपन्यास में। सच तो यह है उपन्यास के यही किस्से सबसे ज्यादा पठनीय और मार्मिक हैं। एक पत्नी ने दर्द से कराहते हुए पैर में पति से मालिश क्या करा ली मानों हिंदू परिवार की प्रतिष्ठा ही दांव पर लग गई। 'जोरू का गुलाम' घोषित हो गया पति। जोरू के ये सभी गुलाम दिन के उजाले में पत्नी से बात भी नहीं कर सकते, अपने बच्चे को गोद में नहीं ले सकते, प्यार-पुचकार नहीं सकते। उनकी मर्दानगी में बट्टा लग जाएगा।

पुस्तक:
हम यहां थे
लेखिका:
मधु कांकरिया
प्रकाशक:
किताबघर प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ: 295
मूल्य: ₹ 590

हजारों मील तक फैले राजस्थान से लेकर कोलकाता के हिंदू समाज का सच और सदियों से वैसी ही बदबू छोड़ता। क्या महान वैदिक सभ्यता की यही विरासत है? साठ वर्षीय ताऊ तेरह वर्षीय लड़की कलावती से शादी रचाते हैं और फिर उसे पहरे में रखते हैं। न वो छत पर जाएगी न आंगन में खड़ी होगी। बाजार का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। पढ़ने को दी जाएंगी उसे कल्याण, अमृतकथा, रामकथा। ऐसे में दीपशिखा की कराहें क्यों न लड़की की बजाय चूहा, भेड़, बकरी बनने में शांति पाएंगी?

यहां स्त्री पर हर दूसरी स्त्री ही ज्यादा अत्याचार करती है। दरअसल उसे सोच ही ऐसा मिला है। नौकरानी काली की हथेलियों में छेद हो गए हैं काम-काज करते-करते। लेकिन किसी को उससे कोई हमदर्दी नहीं। बूढ़ी मां भी बूढ़ी नौकरानी से रोज गेहूं के बोरी ऊपर नीचे कराती है-गेहूं को धूप लगाने के नाम पर। क्रूरता की परत-दर-परत। रूपा, कल्याणी, जयंती, सुदामा, वाल्मिकी सभी दुख की गगरी।

उपन्यास का एक और महत्वपूर्ण संदेश अमीरों के दुष्ट चरित्र की पोल खोलना है। नेपाली नौकर को ऐसे उलझाए रखा जाता है कि अपने वतन तक नहीं लौट पाता। बूढे दादा की उसके प्रति सहानुभूति कभी-कभी उमड़ती तो है लेकिन जातिवादी, सामंती संस्कार इस कद्र पीढ़ी दर पीढ़ी पहुंचते हैं कि उन्हें यह सब महसूस ही नहीं होता। जैन परिवार गेहूं में घुसी चींटी या घुन की हत्या से तो डरता है लेकिन घर की बेटी के गर्भ में अनचाहे बच्चे की हत्या में उसे कोई अपराध नहीं लगता और न पूजा के लिए सड़े सस्ते घी को खरीदने में कोई 'शर्म'। उपन्यास में कोई महानायक या महागाथा नहीं है लेकिन जीवन की ये सभी गाथाएं किसी भी महाआख्यान पर भारी पड़ेगी। अमीरों में पहले दरजे के जातिवादी स्त्री विरोधी कमीनेपन के चित्र दर चित्र। जयंती नौकरानी को फोन करना, उठाना मत सिखाओ (पृ. 209)। वरना घर में जब अकेली होगी तो न जाने किस किसको फोन करेगी। अरे मुंडी-चना बेचने वाले को ड्राइंग रूम में आने दिया? और सेल्सगर्ल को टॉयलेट में प्रवेश। हम तो तीस वरस से सेवा कर रहे नौकरों तक को अपने टॉयलेट में जाने की इजाजत नहीं देते। नस-नस में भेदभाव और ऊपर से कहते हैं कि हम महान हैं। दुनिया का सबसे पाखंडी समाज।

क्योंकि शहर कोलकाता है तो उसके चित्र, समाज, संस्कृति, बोली, भाषा, रवींद्र की झलक भी हर तीसरे पृष्ठ पर मिल जाती है। ''बंगाली कौम अपने लोकनायकों को कभी भूलती नहीं। आज भी दर्जी की दुकान हो, या चाय की या मैट्रो स्टेशन यहां तक कि मध्य वर्गीय घर ही क्यों न हो- हर जगह सुभाष चंद्र बोस, टैगोर, शरतचंद्र, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, जगदीश चंद्र बोस से लेकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर तक।'' (पृ. 118) वाकई कई चेहरों वाला कोलकाता गमन और सपना जैसी फिल्मों की याद दिलाता। इस सच को तो पूरा देश मानता है और उतनी ही बड़ी सचाई है कोलकाता की गंदगी और गरीबी। दीपशिखा की यह बातें बहुत देर तक पीछा करती है कि कोलकाता की सड़कें चलने के अलावा थूकने के

सारी सीमाओं के बावजूद मधु कांकरिया का नया उपन्यास पूरी रोचकता से मौजूद भारत की सही तस्वीर पेश करता है। उपन्यास की कीमत जरूर पाठक को डराती है।

भी बहुत काम आती हैं। (पृ. 48) सड़कों पर गंदगी करना, थूकना शायद पूरे उत्तर भारत की पहचान है। तभी तो मई 2018 के विश्व स्वास्थ संगठन के सर्वे में दुनिया के 15 सबसे प्रदूषित शहरों में 14 भारत के हैं और ये सब भी उत्तर भारत के।

हर उपन्यास, कहानी में अपने वक्त की धड़कने होती हैं और वे सब यहां हैं। बाबरी मस्जिद के टूटने से पहले और बाद की सभी आहटें। सिख दंगों के प्रसंग भी। तवलीन की सामाजिक स्थितियों के बखान से लेकर नवउदारवाद, स्कूल में अंग्रेजी के आतंक तक। कभी-कभी धारावाहिक अखबार की कतरनों का कोलाज सा घटना-दर-घटना।

दीपशिखा कई रूपों में निरतंर उपन्यास में मौजूद हैं। होगी भी क्योंकि उपन्यास उसकी आत्मकथा का विस्तार जो है। कभी समझौता करती तो कभी एक्टीविस्ट की भूमिका में, जब पड़ोस की सुलक्षणा को बचाने के लिए उसने मुहल्ले की औरतों को गोलबंद किया। (पृ. 201)

ये तो हुआ उपन्यास का सामाजिक पक्ष। पठनीय भी और कोलकतिया मारवाड़ी समाज के बहुरंगी चित्र भी। लेकिन इसमें बदलाव कैसे लाया जाए उसके लिए कुछ क्रांति की बातें, गंभीर बहसें, देशाटन, आदिवासी समाज और विकास की तुरंत जरूरत है और यहीं से उपन्यास का उत्तरार्ध शुरू होता है। यहां यात्रा वृत्तांत और रेखाचित्र का जायका भी पाठकों को मिल सकता है। लेकिन उसके विस्तार में जाने से पहले दीपशिखा के परिवार की तरफ फिर लौटते हैं। दीपशिखा का भाई कम्युनिस्ट है, प्रखर क्रांतिकारी। बुर्जुआ समाज का बड़बोला विध्वंशक। मगर अफसोस इन सब औजारों को वह घर में, मां को समझाने में कभी जाया नहीं करता। परम समझौतावादी। दीपशिखा को भी समझाता कि बड़े प्रयोजनों की खातिर, इन छोटे मुद्दे-पोंगापंथी, गैरबराबरी, जातिवादी भेदभाव, नौकर पर होने वाले दैनंदिन अत्याचारों पर ध्यान मत दो। हमारी राजनैतिक विमर्श की यही हकीकत है। सब कुछ हवा में इसीलिए न समाज बदला, न क्रांति हुई। मौजूदा भारत में इसीलिए कई शताब्दियां एक साथ जिंदा है। कहीं टी हाउस की मालकिन तो कहीं जोधपुर किले की नींव में गिरा दफन होता मेघकाल तो कहीं नाइटी पहने विमला भाभी का पुलकना, छिपना। साथ ही जंगल कुमार और दीपशिखा का जंगल देशाटन, आदिवासियों की व्यथा कथा और इन सबके बीच प्रेम, प्लूटोनिक प्रेम की आहटें। एक सिद्धहस्त कथाकार के नाते उत्तरार्ध को शामिल करने की कोशिश पूरी की है लेकिन अवांछित विस्तार के कारण पठनीयता में बाधा आती है। आदिवासी नक्सलवादी विमर्श को संजीव की 'अपराध' और दूसरी कहानियों में ज्यादा विश्वनीयता से उकेरा गया है। हाल ही में हंस पत्रिका में आशुतोष भारद्वाज के प्रामाणिक रिपोर्ताज भी छप रहे हैं जो उन्होंने गुमनामी में नक्सलियों के साथ रहकर लिखे हैं।

सारी सीमाओं के बावजूद मधु कांकरिया का नया उपन्यास पूरी रोचकता से मौजूद भारत की सही तस्वीर पेश करता है। उपन्यास की कीमत जरूर पाठक को डराती है।

संघर्ष की व्यथा कथा

सुशीला टाकभौरे

दलित चिंतक

संपर्क :
शील - 2, गोपाल नगर, तीसरा बस स्टॉप के करीब, नागपुर - 440022 (महाराष्ट्र)

दलित लेखन का भंडार तेजी से बढ़ रहा है, मगर इसमें दलित महिला लेखन को अभी भी प्रेरणा और प्रोत्साहन की आवश्यकता है। महिलाएं लिख रही हैं, मगर वे अपनी अनेक प्रकार की समस्याओं के कारण उन्हें प्रकाशित नहीं कर पाती हैं। दलित महिला लेखन की खोज करके उसे प्रकाशित किया जाए, साथ ही चर्चा विमर्श के केंद्र में उसे लाया जाए तभी दलित महिला लेखन का मूल्यांकन सही रूप में हो पाएगा। इसी दृष्टि से रजनी तिलक ने अन्य दलित लेखिकाओं के सहयोग के साथ, 'समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन' को संकलित करके, संपादित रूप में प्रकाशित करने की योजना बनाकर, इस श्रृंखला में तीन विशेष अंक को सफल रूप में पाठकों के समक्ष लाने का प्रयास किया है।

हिंदी साहित्य में हिंदी दलित लेखन को अब महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। दलित लेखन का भंडार तेजी से बढ़ रहा है, मगर इसमें दलित महिला लेखन को अभी भी प्रेरणा और प्रोत्साहन की आवश्यकता है। महिलाएं लिख रही हैं, मगर वे अपनी अनेक प्रकार की समस्याओं के कारण उन्हें प्रकाशित नहीं कर पाती हैं। दलित महिला लेखन की खोज करके उसे प्रकाशित किया जाए, साथ ही चर्चा विमर्श के केंद्र में उसे लाया जाए तभी दलित महिला लेखन का मूल्यांकन सही रूप में हो पाएगा। इसी दृष्टि से रजनी तिलक ने अन्य दलित लेखिकाओं के सहयोग के साथ, 'समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन' को संकलित करके, संपादित रूप में प्रकाशित करने की योजना बनाकर, इस श्रृंखला में तीन विशेष अंक को सफल रूप में पाठकों के समक्ष लाने का प्रयास किया है। 'समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन' के खंड 1 में दलित लेखिकाओं द्वारा लिखी गई कविता, कहानी, नाटक, यात्रा वर्णन, आत्मकथांश, संस्मरण, वैचारिक लेख-इन सभी विधाओं की रचनाओं का परिचय एवं उन पर समीक्षात्मक विचारों को संकलित किया था। यह अंक बहुत ही सराहनीय माना गया है। खंड-2 में अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी एवं अन्य भाषाओं में लिखी गई दलित महिलाओं की कविताओं को हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। यह कविताओं पर विशेष अंक भी सराहनीय बना है। इसी श्रृंखला में खंड-3 को दलित महिला आत्मकथाओं पर विशेष अंक के रूप में नियोजित करके प्रकाशित किया है।

इन सभी अंकों को देखने के बाद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दलित महिला लेखन भी देश के लगभग सभी प्रांतों में, साहित्य की अनेक विधाओं में हो रहा है। 'खंड-3 आत्मकथा विशेष' अंक में 21 महिला और 05 पुरुष साहित्यकार एवं समीक्षकों की महत्वपूर्ण रचनाओं को संकलित किया है। संपादकीय भूमिका 'दलित महिलाओं की आत्मकथाओं का धरातल' में रजनी तिलक ने लिखा है- ''दलित महिला लेखन अब अपना शैशव पार कर, युवावस्था में प्रवेश कर चुका है।'' (भूमिका, पृ. 7)

इस अंक में विषयवस्तु को साक्षात्कार, लेख, आत्मकथांश एवं समीक्षा रूप में संकलित किया है। भूमिका के बाद दो साक्षात्कार हैं -1. प्रा. कुमुद पावड़े से डॉ. सुशीला टाकभौरे की बातचीत और 2. नलिनी सोमकुंअर से छाया खोब्रागडे की बातचीत। प्रा. कुमुद पावड़े महाराष्ट्र की दलित महिला आंदोलन की विशिष्ट कार्यकर्ता एवं नेता हैं। मराठी में उनकी आत्मकथा 'अंतःस्फोट' नाम से प्रसिद्ध रचना हैं उनके साथ बातचीत करके महाराष्ट्र के अंबेडकरवादी दलित आंदोलन एवं दलित महिला आंदोलन संबंधी अनेक नई जानकारी हासिल की गई है। छाया खोब्रागडे ने नलिनी सोमकुंअर के साथ बातचीत के आधार पर अनेक महत्वपूर्ण बातों की जानकारी दी है।

लेख खंड में दलित साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समीक्षकों के वैचारिक लेख हैं। डॉ. विमल थोरात का लेख 'दलित जीवन का दस्तावेज' दलित आत्मकथन है इसमें उन्होंने दलित साहित्य लेखन के महत्व एवं आवश्यता को बताते हुए, मराठी एवं हिंदी दलित साहित्य की अनेक पुरुष एवं स्त्रियों की आत्मकथाओं का परिचयात्मक विवरण देकर विश्लेषण भी किया है। रजनी तिलक ने अपने लेख 'हिंदी दलित साहित्य में स्त्री चित्रण एवं पितृसत्ता' में विशेष रूप से कौसल्या बेसंतरी की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है। उर्मिला पवार मराठी दलित साहित्य की प्रसिद्ध लेखिका हैं। उनकी आत्मकथा 'आयदान' प्रसिद्ध आत्मकथा है। उन्होंने अपने लेख 'मराठी साहित्य में दलित स्त्री का चित्रण व पितृसत्ता' में कई गंभीर मुद्दों को उठाया है। दलित साहित्य का आरंभ, दलित स्त्री आंदोलन का आरंभ, मराठी के प्रगतिवादी

समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन के सभी अंकों को देखने के बाद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दलित महिला लेखन भी देश के लगभग सभी प्रांतों में, साहित्य की अनेक विधाओं में हो रहा है।

पुस्तक:
समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन खंड-3
संपादक:
रजनी तिलक
प्रकाशक:
स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ: 287
मूल्य: ₹ 275

एवं जनवादी साहित्य में दलितों के प्रति दया और सहानुभूति दिखाने के उदाहरण बताने के बाद, मराठी के स्थापित दलित साहित्यकारों एवं उनके लेखन की जानकारी दी है। गेल आंबेद ने अपने लेख 'महाराष्ट्र का दलित साहित्य' में बताया है कि महाराष्ट्र के साहित्यकारों ने अक्सर गाने गाथा कथा छोटे नाटक के रूप को जाति व्यवस्था तथा शोषण के खिलाफ विद्रोह के अपने पैगाम का माध्यम बनाया था। (पृ. 61)

दिल्ली की दलित लेखिका डॉ. विनीता रानी ने 'यातना से चेतना तक हमारा जीवन' लेख में मराठी भाषी बेबी कामले की आत्मकथा के हिंदी अनुवाद 'जीवन हमारा' का विस्तारपूर्वक वैचारिक रूप से विश्लेषण किया है। दिल्ली की लेखिका रजनी दिशोदिया ने 'दलित साहित्य का स्त्री स्वर' लेख में 'हंस' पत्रिका के विशेषांकों में छपे दलित स्त्री लेखन का विवरण देते हुए, हिंदी दलित लेखिकाओं के लेखन का विस्तारपूर्वक विवरण दिया है। 'अपेक्षा' पत्रिका के 'दलित स्त्री आत्मवृत्त विशेषांक' में अनेक दलित स्त्री आत्मकथांश छपे थे। उनकी संख्या अधिक थी, फिर भी दलित लेखिकाओं की संख्या कम हैं इस पर उन्होंने चिंता व्यक्त की है। उज्जैन की डॉ. तारा परमार 'आस्वस्त' पत्रिका की संपादक हैं। 'दलित महिलाओं के आत्मकथन' लेख में उन्होंने मराठी साहित्य की सवर्ण स्त्री साहित्यकारों की आत्मकथाओं की विस्तृत जानकारी देने के बाद, मराठी की दलित स्त्री आत्मकथाओं का विवरण देते हुए विवेचन किया है। विशेष रूप से उन्होंने बेबी ताई कामले की आत्मकथा 'जीवन हमारा' की अनेक विशेषताओं को रेखांकित किया है। डॉ. रेखा रानी हैदराबाद की तेलुगू भाषी लेखिका हैं। उन्होंने 'इंतजार के इन पलो में' लेख में अपने विचार रखते हुए मराठी, हिंदी, तेलुगू, कन्नड़ भाषा के अनेक आत्मकथाकारों और उनकी आत्मकथा का उल्लेख किया है। उन्होंने विशेष रूप से तेलुगू कवि जाषुवा के 18 वीं सदी के दलित चेतना के साहित्य का उल्लेख करते हुए, उसी में दलित जीवन की पीड़ा के इतिहास को महत्वपूर्ण बताया है। तेलुगू भाषी दलित स्त्री आत्मकथा की जानकारी नहीं मिलती- यह एक अभाव की बात है। कविता, कहानी और उपन्यासों में ही दलित की व्यथा कथा बताई गई है, लेकिन आत्मकथाएं भी आवश्यक हैं।

कंवल भारती हिंदी दलित साहित्यकारों में स्थापित साहित्यकार माने जाते हैं। वे मुख्य रूप सें अच्छे समीक्षक और आलोचक हैं। दलित विमर्श की भूमिका, उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 90 के दशक में प्रकाशित हो गई थी। 'दलित चिंतन में स्त्री' वैचारिक लेख में उन्होंने अपने विचार रखे हैं। विशेष रूप से दलित लेखिका हेमलता महेश्वर की पुस्तक 'स्त्री लेखन और समय के सरोकार' का उन्होंने विवेचन के साथ विश्लेषण किया है।

डॉ.चमनलाल विशेष रूप से स्थापित समीक्षक और विचारक माने जाते हैं। दलित साहित्य और साहित्यकारों के संबंध में उनकी अपनी दृष्टि है। 'भारतीय भाषाओं में दलित महिला लेखन' लेख में

रजनी तिलक द्वारा संपादित 'भारतीय दलित महिला लेखन' का 'खंड-3 आत्मकथा विशेष, पूर्ण रूप से उल्लेखनीय, सराहनीय और संग्रहणीय है। 'भारतीय दलित महिला लेखन' के इस खंड द्वारा साहित्य जगत को और शोधार्थियों को उपलब्धि प्रदान की गई है। समग्र रूप से दलित स्त्री आत्मकथाओं के अध्ययन से समाज के सामने वे सभी समस्याएं उजागर हुई हैं, जिनके निदान के साथ समाज में मानवता को सुरक्षित किया जा सकता है।

उन्होंने हिंदी और मराठी भाषा की दलित लेखिकाओं की जानकारी देने के साथ, विशेष रूप से 'सीमंतनी उपदेश' के विषय में विस्तार के साथ बताया है। वे कहते हैं, यह एक अज्ञात हिंदू औरत की आत्मकथा है, जिसे पहली बार 1882 में लुधियाना के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी ने प्रकाशित किया था। इस आत्मकथा में स्त्री पुरुष भेद और स्त्रियों के प्रति शोषण, अन्याय और अत्याचार का उल्लेख है। मगर यह दलित स्त्री की आत्मकथा नहीं है। इसके दो अध्याय कविता रूप में लिखे गए हैं। इसके बाद डॉ. चमनलाल ने कौशल्या बेसंतरी और बेबीताई कामले की आत्मकथा का विस्तृत विवरण दिया है। उन्होंने सुशीला टाकभौरे के लेखन का परिचय देने के बाद, किशोर शांताबाई काले की आत्मकथा 'छोरा कोल्हाटी का' और शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमासी' की चर्चा की है। ऊषा मीणा ने 'अंबेडकरवादी चेतना और दलित आत्मकथाएं' लेख में बाबासाहब डॉ. अंबेडकर और उनकी विचारधारा को बताते हुए, दलित साहित्य लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। महाराष्ट्र की कौसल्या बेसंतरी की आत्मकथा का विवरण भी अंबेडकरवादी विचारधारा के संदर्भ में दिया गया है। इसी तरह महाराष्ट्र के नागपुर की प्रा. कुमुद पावड़े की आत्मकथा का उल्लेख है। ये दोनो आत्मकथाकार दलित स्त्रियां डॉ. अंबेडकर के दलित आंदोलन से जुड़ी थीं। उन्होंने डॉ. अंबेडकर की विचारधारा को आत्मसात किया है।

आत्मकथांश खंड में कुछ दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं के अंश को रखा गया है। डॉ. कुसुम मेघवाल का 'मेरी समाज सेवा', डॉ. पुष्पा गोविंदराव गायकवाड़ का 'लड़की होने की सजा', ऊषा राय की 'अनपढ कहानी', बेबी हलदार का आलौ अंधियारी', दीप्ति प्रिया महरोत्रा का 'नौटंकी की मल्लिकाः गुलाब बाई हैं।

समीक्षा खंड में हिंदी मराठी नीग्रो तमिल भाषा में लिखी दलित स्त्री आत्मकथाओं पर विशेष समीक्षकों द्वारा लिखी समीक्षाओं को संकलित किया है। 'टुकड़ा टुकड़ा जीवन' बिहार की कावेरी की आत्मकथा है, जो 2017 में स्वराज प्रकाशन से प्रकाशित हुई है। इसकी समीक्षा दिल्ली की दलित महिला समीक्षक अनिता भारती ने की है। उन्होंने इस आत्मकथा में सच की तलाश की है। इस आत्मकथा

में वर्णभेद, जातिभेद के साथ गरीबी अभाव से भरा दलित जीवन है। साथ ही दलित स्त्री के शोषित, पीड़ित जीवन की कथा है, जो ब्राह्मणवाद और मनुवाद के साथ पुरुष सत्ता से भी पीड़ित है। दलित स्त्रियों द्वारा निर्भीक होकर आत्मकथा लिखी गई हैं। यहां घर परिवार में होने वाले उत्पीड़न को भी निडर होकर बताया गया है। यह दलित स्त्री की सबलता का सूचक है। फिर भी स्त्री मन की व्यथा, 'टुकड़ा टुकड़ा जीवन' के रूप में कितना दुख देती है, कावेरीजी की बातों को अनिताजी ने स्पष्ट किया है। 'हमारी मां' आशालता कांबले की आत्मकथा मराठी में प्रकाशित है। आशाजी ने बचपन से देखे मां के जीवन को समझकर, उनकी व्यथा को चित्रित किया है। मां से मिलने जाने पर आशाजी को वे सब बातें याद आती हैं। मां की उदारता, सहजता और मेहनत के साथ, शोषित-पीड़ित जीवन कथा की परतों को समीक्षक ऊषा अम्बोरे ने विस्तार के साथ उदाहरण सहित बताया है।

भारतीय जीवन के परिवेश से हटकर यहां एक आत्मकथा 'एक गुलाम लड़की की कहानी' है। यह केट ड्रमगूल्ड नीग्रो लड़की की जीवन कथा है जिसके बचपन में ही उसकी मां को बेच दिया जाता है। हमारे यहां जाति भेद के साथ स्त्री शोषण है, मगर ब्लेक लिट्रेचर में दास जीवन की व्यथा कथा है। इस आत्मकथा की समीक्षा डॉ. जयप्रकाश कर्दम ने लिखी है, जो कि इस पुस्तक में दलित महिला लेखन के बीच अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। स्त्री चाहे दलित हो, गैर-दलित हो या कोई अन्य, वह किसी न किसी रूप में शोषित, पीड़ित होती ही है। पश्चिमी देशों की स्त्रियों ने भी स्त्री पुरुष भेद के साथ अधिकारहीनता का कष्ट भोगा था। लगातार आंदोलन और संघर्ष के बाद ही वे अधिकार संपन्न बनी हैं। फिर भी वे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक नैतिक, राजनैतिक सभी स्तर पर पुरुषों द्वारा शोषित, पीड़ित हैं। उनमें गुलाम स्त्रियों की व्यथा सबसे अधिक है।

'जेंडर व जाति पर सवाल उठाती एक आत्मकथा' समीक्षा लेख में रजनी तिलक ने 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा का विश्लेषण बहुत गहराई और विस्तार के साथ किया है। यह समीक्षा अपने आप में बहुत सशक्त और सार्थक रूप में लिखी गई है, जिसके द्वारा लेखिका को पूरा न्याय दिया गया है। एक स्त्री के मन की बातें दूसरी स्त्री अच्छी तरह समझ सकती है यह इसका प्रमाण है।

'कुरूक्कु' तामिलनाडु की तमिल भाषी बामा की आत्मकथा है। यहां डॉ. शशिकांत सोनवणे ने इस आत्मकथा की समीक्षा बहुत ही संतुलित रूप में की है। बामा ने सहज रूप में अपने दलित जीवन के अभाव, नन बनने के बाद की व्यथा, अन्याय और जाति भेद छुआछूत के अपमान की व्यथा का चित्रण किया है। उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक सभी जगह सवर्णों का वर्चस्व और दलितों का अपमान शोषण होता है। यहां धर्म के नाम पर किए जाने वाले आडंबरों का भी भंडाफोड़ किया गया है।

रजनी तिलक की आत्मकथा का पहला भाग 2017 में स्वराज प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम है - 'अपनी जमीं अपना आसमां'। इस आत्मकथा की समीक्षा शोध छात्र अरुण कुमार प्रियम ने की है। जगदीश गुप्त की काव्य पंक्तियों के साथ उन्होंने इस आत्मकथा में व्याप्त दलित जीवन की समस्याओं को विश्लेषित किया है। रजनी तिलक लेखिका होने के पहले सामाजिक कार्यकर्ता रही हैं। इसके अनेक प्रसंग उनकी आत्मकथा में हैं। बचपन से ही जीवन में अनेक संघर्षों का सामना करने से विरोध और विद्रोह की प्रवृत्ति सहज रूप में उनमें विकसित हुई थी। इसके साथ घरेलू पारिवारिक बातों ने भी उन्हें अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता दी थी। दादाजी के परिवार से शुरू हुई यह आत्मकथा, रजनीजी के वैवाहिक जीवन के आरंभ पर आकर पूर्ण होती है। इसकी समीक्षा अरुण कुमार ने प्रसंगों और संदर्भों के उल्लेख के साथ विस्तार पूर्वक लिखी हैं।

'जेंडर व जाति पर सवाल उठाती एक आत्मकथा' समीक्षा लेख में रजनी तिलक ने 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा का विश्लेषण बहुत गहराई और विस्तार के साथ किया है। यह समीक्षा अपने आप में बहुत सशक्त और सार्थक रूप में लिखी गई है, जिसके द्वारा लेखिका को पूरा न्याय दिया गया है। एक स्त्री के मन की बातें दूसरी स्त्री अच्छी तरह समझ सकती है यह इसका प्रमाण है। 'शिकंजे का दर्द' चर्चित आत्मकथा है, जिसमें दलित और स्त्री दोनों की वेदना है।

'भारतीय दलित महिला लेखन' का 'खंड-3 आत्मकथा विशेष, पूर्ण रूप से उल्लेखनीय, सराहनीय और संग्रहणीय है। हिंदी दलित लेखन के साथ मराठी दलित लेखन की चर्चा होना स्वाभाविक है। क्योंकि मराठी दलित साहित्य लेखन से प्रेरणा और दिशा निर्देशन लेकर ही, हिंदी दलित लेखन का आरंभ हुआ था। मराठी दलित साहित्य में पहले आत्मकथात्मक कहानियां लिखी गई, जो यथार्थ रूप में आत्मकथा के अंश थे। अक्करमाशी और बलूत आत्मकथाएं उपन्यास शैली में लिखी गई हैं, जिससे वे अधिक रोचक बनी है। साहित्य लेखन की सभी विधाओं में आत्मकथा विधा को सबसे प्रामाणिक अर्थात् सत्य से पूर्ण माना जाता है। दलित जीवन का करुण यथार्थ दलित आत्मकथाओं के द्वारा ही समाज के सामने आया है। दलित स्त्री आत्मकथाएं कम हैं, मगर वे दलित उत्पीड़न के साथ, स्त्री होने की व्यथा को पूर्ण रूप में स्पष्ट करती हैं। कौशल्या बेसंतरी का 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द', रजनी तिलक का 'अपनी जमी अपना आसमां' और कावेरीजी का 'टुकड़ा टुकड़ा जीवन' अनीता भारती की छूटे पन्नों की उड़ान, सभी आत्मकथाएं जातिवाद, मनुवाद के साथ पुरुष सत्ता, घरेलू हिंसा, शिक्षा और समानता के अधिकारों के लिए संघर्ष की व्यथा कथा है।

'भारतीय दलित महिला लेखन' के इस खंड द्वारा साहित्य जगत को और शोधार्थियों को उपलब्धि प्रदान की गई है। समग्र रूप से दलित स्त्री आत्मकथाओं के अध्ययन से समाज के सामने वे सभी समस्याएं उजागर हुई हैं, जिनके निदान के साथ समाज में मानवता को सुरक्षित किया जा सकता है।

उपन्यास

'जादुई यथार्थवाद' का गल्प

सत्यकेतु सांकृत

आलोचक

संपर्क :
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
लोथियन रोड, कश्मीरी रोड, दिल्ली-110006

पुस्तक:
चिड़िया बहनों का भाई
लेखक:
आनंद हर्षुल
प्रकाशक:
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 187
मूल्य: ₹ 450

आनंद हर्षुल का उपन्यास 'चिड़िया बहनों का भाई' उस 'जादुई यथार्थवाद' का सुंदर नमूना माना जा सकता है जिसको संसार भर में लोकप्रिय बनाने का श्रेय समस्त साहित्यिक जगत को अपने औपन्यासिक शिल्प से चमत्कृत करने वाले कोलंबिया के लब्ध प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार विजेता गाब्रिएल गार्सिया मार्केज को सहज ही प्राप्त है। यद्यपि हिंदी कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यह अपेक्षाकृत नई औपन्यासिक विधा है तथापि भारतीय परंपरा में इसके सूत्र कथा सरित्सागार, वृहत्कथा, पंचतंत्र, कादंबरी आदि में तलाशे जा सकते हैं। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास चंद्रकांता एवं चंद्रकांता संतति में भी इसका स्वर सुनाई पड़ता है।

आनंद हर्षुल का उपन्यास 'चिड़िया बहनों का भाई' उस 'जादुई यथार्थवाद' का सुंदर नमूना माना जा सकता है जिसको संसार भर में लोकप्रिय बनाने का श्रेय समस्त साहित्यिक जगत को अपने औपन्यासिक शिल्प से चमत्कृत करने वाले कोलंबिया के लब्ध प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार विजेता गाब्रिएल गार्सिया मार्केज को सहज ही प्राप्त है। यद्यपि हिंदी कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यह अपेक्षाकृत नई औपन्यासिक विधा है तथापि भारतीय परंपरा में इसके सूत्र कथा सरित्सागार, वृहत्कथा, पंचतंत्र, कादंबरी, आदि में तलाशे जा सकते हैं। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास चंद्रकांता एवं चंद्रकांता संतति में भी इसका स्वर सुनाई पड़ता है। हाल के वर्षों में विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास खिलेगा तो देखेंगे, दीवार में एक खिड़की रहती थी, प्रियंवद के परछाई नाच और उदय प्रकाश की कहानी पालगोमरा का स्कूटर आदि में औपन्यासिक विजन की इस प्रवृत्ति का अत्यंत कलात्मक रूप दिखाई पड़ा। समीक्ष्य कृति को इसी परंपरा की एक मजबूत कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इस उपन्यास में अपने विजन को रूपायित करने के लिए उपन्यासकार आनंद हर्षुल ने मिथक, प्रतीक, रहस्य, रोमांच से भरा एक ऐसा जादुई संसार निर्मित किया है जो पाठकीय चेतना पर किंचित तनिक गांभीर्य रूप में ही सही पर अपनी अमिट छाप छोड़ता चलता है।

'चिड़िया बहनों का भाई' के केंद्र में अवस्थित कथानायक भुलवा के घर-संसार में प्रवेश करने के लिए कथाकार ने एक ऐसे अनिर्वचनीय ऐंद्रीय लोक से संपृक्त कथा संसार की निर्मिती की है जिसमें मानव और मानवेत्तर प्राणियों का अद्भुत और चमत्कृत कर देने वाला सामंजस्य दिखाई पड़ता है। यह एक ऐसी दुनिया है जिसमें पशु-पक्षी ,वनस्पति और मानव जीवन के उस अनिवार्य मेल को दिखाया गया है जिसकी आवश्यकता आज के इस उत्तर आधुनिकतावादी भूमंडलीकृत समाज को सबसे अधिक है। इस उपन्यास में कथाकार ने बड़ी चतुराई से इन सबों के बीच अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए एक दूसरे की जिंदगी में आवाजाही हेतु जो तरीका अख्तियार किया है वह असमान्य होता हुआ भी लेखकीय विजन के कारण सामान्य सा दिखाई पड़ता है। पंचतंत्र की कहानियों की तरह पशु पक्षी भी न केवल संवाद की स्थिति में दिखाई ही पड़ते हैं बल्कि मानव जीवन से संपृक्त होकर अपनी उपयोगिता भी प्रमाणित करते हैं। कथाकार ने बड़ी चतुराई से उन सब दृश्यों की योजना कर डाली है जिसका प्रस्तुतीकरण शायद परंपरागत लेखन के माध्यम से करने में उसे कठिनाई होती। कहना न होगा इसके लिए लेखक ने एक ऐसे मिथकीय कथा संसार का निर्माण किया है जो प्रतीकों के माध्यम से जीवंत हो उठा है। 'मछलियां' उपशीर्षक में कथक के बोल हैं ''नदी गांव से गुजर रही है। गुजर रही हैं मछलियां नदी के साथ-साथ। चांदी के छोटे-छोटे टुकड़े, जीवित तैर रहे हैं पानी में। पानी मछलियों के साथ बह रहा है या तैरती मछलियां बहा रही हैं पानी को अपने साथ। यह सिर्फ नदी जान रही है या जान रही हैं तैरती मछलियां।'' यह उपन्यास आद्यंत इस प्रकार की भाषा से भरा पड़ा है। असमान्य और अबूझ सी दिखनेवाली इस भाषा का सामर्थ्य यह है कि कथाकार ने बिलकुल कबीराना अंदाज में रहस्यात्मकता के माध्यम से एक ऐसे ग्रामीण समाज की कथा प्रस्तुत की है जो हर दृष्टि से न केवल पिछड़ा है बल्कि अशिक्षा की मार से भी जुझ रहा है। यह एक ऐसा समाज है जहां के निवासियों को अपनी जन्मतिथि तक की किसी को कोई जानकारी नहीं है। दो जून की रोटी मिलने तक की बात तो दूर रही तन ढकने तक के लिए उनके पास कपड़े तक नहीं हैं। ऐसी गरीबी की मार झेल रहे भुलवा को अपने और अपने बूढ़े माता-पिता की क्षुदा को शांत करनें के लिए नदी के किनारे बैठ कर मछली मारने का उपक्रम करना पड़ता है। एक दिन वह कुछ मछलियों को अपनी पकड़ में ले भी लेता है तभी अचानक वे सब उड़ जाती हैं और भुलवा अचंभित रह जाता है। भुलवा भारी मन से घर लौटा है जहां वे मछलियां उससे पहले ही पहुंच गई होती हैं। मां भुलवा को उलाहना देती है ''कैसा करता है रे - 'मछली बाहर छोड़कर कहां चला गया था?' भुलवा कुछ समझ नहीं पाता। आखिर नदी किनारे टोकनी से गायब हुई मछलियां उसके घर कहां से आ गईं। कथक एक बार फिर से अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। मछलियों ने अपना काम कर दिया है। वे उड़कर पहुंची हैं भुलवा के घर। आकर कटी हैं वे। स्वाद रचा है अपने भीतर। स्वाद, जैसा चाहा है भुलवा की मां के हाथों ने। मछलियों की कटी देह भी मुस्कुराती रही है कांसे की

थाली में पड़ी-पड़ी। जब तक खा नहीं ली मछलियां उन तीनों ने, तब तक मुस्कुराती रही मछलियां। अब मछलियों की बारीक हड्डियां भर बची हैं। घर की धरती पर पड़ी। धरती पर पड़ी हड्डियां जूठन हैं। जूठन हैं मां, बाबू और भुलवा की। प्रतीकों के माध्यम से की गई यह प्रस्तुति बहुत कुछ लेखक के उस विजन को स्पष्ट करती है जिसमें वह एक रहस्यलोक का निर्माण कर एक अभावग्रस्त समाज की अलोमहर्षक वेदना को प्रस्तुत करना चाहता है। पूरा उपन्यास इसी तरह की कई अनिर्वचनीय कथा प्रसगों से भरा पड़ा है।

समीक्ष्य कृति स्त्री जीवन के उन मार्मिक प्रसंगों को भी उजागर करती चलती जिन्हें भारतीय समाज का अभिशाप माना जा सकता है। सदियों से एक चहारदीवारी के भीतर जीवन जीने को अभिशप्त स्त्री जीवन की दारुण कथा के प्रसंगों के निर्माण में लेखक ने अपनी सुंदर कलात्मक क्षमता का परिचय दिया है। उपन्यास के केंद्र में अवस्थित भुलवा की कथा के प्रसंग में ही वह पूर्वदीप्ति के सहारे बड़ी चतुराई से एक ऐसी सच्चाई से पाठक को रूबरू करा जाता है जिसे आज के इस बदलते परिवेश में भी नकारा नहीं जा सकता है। पुरुष वर्चस्व से आक्रांत समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री कितने बंधनों में जकड़ी रहती है इसके लिए कथाकार ने जिस कथ्य का सृजन किया है वे निश्चित ही काबिलेगौर माने जा सकते हैं। कथक के बोल हैं 'इच्छाओं को मारने की आदत भुलवा की मां को बचपन से पड़ गई है। पड़ गई है कुछ इस तरह कि इच्छाओं को मारते हुए वह भीतर चाहे जितनी दुखी रहे, बाहर उसका दुख नहीं दिखता है। एक छोटी बच्ची स्कूल जाना चाहती है, एक छोटी बच्ची पिता के कंधों पर बैठना चाहती है, जैसे बैठता है उसका भाई-एक छोटी बच्ची घर में अपनी मां का हाथ बंटाने के बजाए, मैदान में खेलना चाहती है। बिल्लस। मैदान में उसका छोटा भाई खेलता दिख रहा है और उस मैदान में छोटी के खेलने के लिए बची नहीं है कहीं भी एक बित्ता जगह ऐसी बहुत सी इच्छाएं थीं जो भुलवा की मां के मन में बचपन से आज तक जागती रही हैं। जागती रही हैं और गायब होती रही हैं अंधेरे में। अंधेरे में उसकी इच्छाओं की जगह को कभी भाई ने घेरा है। घेरा है कभी मां ने। कभी उसके बाबू ने घेरा है। घेरा है कभी सास ने। कभी पति ने घेरा है। पति ने तो घेरा है उसकी इच्छा की जगह सबसे अधिक। अंधेरे में सबसे अधिक उसकी इच्छाओं की हत्या की है उसके पति ने।' स्त्री जीवन की दारुण गाथा यहीं समाप्त नहीं होती। भुलावा की मां के कोख से जब बेटी पैदा होती है तब बेटे की चाहत संजोए परिवार में मातम सा छा जाता है। यहां कथाकार एक बार फिर से हमें एक ऐसे रहस्यलोक में ले जाता है जो अविश्वसनीयता की हद को पार करता दिखाई पड़ता है। कथक कहता है 'अभी अभी पैदा हुई बच्ची अचानक दुखी हो गई। इतनी ज्यादा दुखी कि देह उसकी इस तरह कसमसाई भीतर ही भीतर कि जैसे भीतर ही भीतर घुल-मिल बह जाना चाह रही हो। चाह रही हो कभी नहीं दिखना पृथ्वी पर।' कथाकार यहीं नहीं रुकता। वह एक और रहस्य कथा का निर्माण करता है जिसके तहत वह नवजात बच्ची चिड़िया बन कर उड़ जाती है। वही

शिल्प की अनावश्यक जटिलता और भाषा का खिलवाड़ आनंद हर्षुल को उन उपन्यासों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है जो कथ्य से अधिक रूप को महत्व देते हैं। हिंदी में यह प्रवृत्ति पिछली सदी के आठवें दशक में उभरती और अंतिम दशक में परवान चढ़ती हुई आज पर्यंत एक नए रूप में हमारे सामने उपस्थित हुई है।

नहीं भुलवा की मां के गर्भ से पैदा हुई चार और बच्चियां चिड़ियों में बदल उड़ जाती हैं मानों ऐसे समाज में वे रहना नहीं चाहती हों जहां उनका सम्मान न हो। नवजात बच्चियों का चिड़ियों में परिवर्तित हो स्वच्छंद आकाश में उड़ जाना एक ऐसा प्रतीक है जिसके माध्यम से उसके स्त्री स्वातंत्र्य का विजन प्रस्फुटित हुआ है। भुलवा ऐसी ही चिड़िया बहनों का इकलौता भाई है। पूरा उपन्यास भुलवा के अवलोकन बिंदु से ही आगे बढ़ता जाता है। ऐसा लगता है कि कथाकार अपने वर्णन की दूरबीन पाठक को पकड़ा देता है और वह उसके सहारे ऐसे संसार की कथा का साक्षी बनता है जिसमें रहस्यात्मकता बराबर बनी रहती है। कहना न होगा कि इसके लिए जिस भाषा सामर्थ्य की जरूरत होती है वह आनंद हर्षुल में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। कहीं-कहीं तो भाषा का सौंदर्य बिलकुल कविता के निकट जाता प्रतीत होता है। कथा साहित्य में इस तरह की भाषा विरले ही देखने को मिलती है पर कथ्य के अनुरूप भाषा की सर्जनात्मकता उसे जीवंत बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक होती है। अपने कथा संसार की निर्मिति में कथाकार ने निश्चित ही एक ऐसी सामर्थ्यवान भाषा का प्रयोग किया है जिसे उसके अनुरूप माना जा सकता है।

आनंद हर्षुल की इस रचना एक में प्रेम प्रसंग भी चित्रित हुआ है पर विषयानुकूल तनिक भिन्न रूप में। यह प्रेम प्रसंग बाल्यावस्था की ड्योढ़ी पार कर यौवनावस्था में प्रवेश करते भुलवा और उसकी पड़ोसन विराजो के बीच पुष्पित एवं पल्लवित होता है। इस प्रेम कहानी में मिरचुक भूत का भी प्रसंग आया है जिसे कथाकार नें जीवंत बनाने का भरसक प्रयास किया है पर इसमें उसे सफलता नहीं मिली है। यह प्रसंग सही अर्थों में अनर्गल गप्प से इस तरह आच्छादित है जिस पर विश्वास करने का कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रसंग में मिरचुक भूत न केवल मनुष्य की तरह बढ़ता है बल्कि अपने हम उम्र भुलवा के शरीर में प्रवेश कर विराजो के साथ संभोग का सुख प्राप्त करता है और वर्षों से संचित अपनी अतृप्त लालसा की भी पूर्ति करता है। 'कौन हो तुम? विराजो ने पूछा। सुख के साथ दूर तक बह जाने के बाद उसे लगा कि भुलवा-सा दिखता हुआ यह शायद भुलवा नहीं है। या यह सोच उसने ठीठोली की कि थोड़ी देर पहले भुलवा और अभी के भुलवा में कितना अंतर है। पूछती हुई विराजो के चेहरे पर संभोग-सुख का पसीना झिलमिला रहा है। पसीने के नीचे से विराजो का चेहरा मुस्कुरा रहा है अब भी। अब भी मुस्कुरा रहा है जैसे वह संदेह में हो। थोड़ी देर पहले के भुलवा और अब के भुलवा में बस भूत भर का अंतर है। कोई नहीं जान रहा है कि भूत-भर अंतर कितना है। है एक बित्ता। एक हाथ है। है एक कोस या है धरती से आसमान जितना।' यह और कुल चौदह परिच्छेदों में विभक्त इस उपन्यास में इस तरह के कई कथा प्रसंगों का निर्माण सायास किया गया है जिसके औचित्य पर पाठक वर्ग प्रश्नचिह्न लगा सकता है। उपन्यास को कामुक बनाकर उसके द्वारा रोमांच पैदा करने की कोशिश से एक श्रेष्ठ कथाकार को सदा बचना चाहिए। यौन संबधी चित्रण में नग्न यथार्थवाद के नाम पर शब्दों के चयन और बिंब संयोजन में अतिशय सतर्कता और संयम की अपेक्षा होती है। जहां इन चीजों का अभाव दिखता है वहां अपनी प्रकृति के अनुरूप एक तरह के भदेसपन की निर्मिती होती है जो उपन्यास की कलात्मकता को धता बताती हुई उसे कमजोर बनाती है। रहस्यात्मकता की सार्थकता तो इसी में है कि उसके प्रतीकार्थ स्पष्ट होने के साथ-साथ अपने औचित्य को भी प्रमाणित करते चले। अगर ऐसा नहीं होता है तो उसकी वैज्ञानिकता संदेह के घेरे में आ सकती है।

एक अच्छे उपन्यासकार की एकमात्र चिंता यह होती है कि कि वह अपने विजन को प्रस्तुत करने के लिए कौन सी शिल्प प्रविधि का इस्तेमाल करे। शिल्प के प्रति सजगता का चयन हर कथाकार का अपना अधिकार होता है और वह इसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप को स्वीकार भी नहीं करता है। पर जहां कहीं भी कथ्य के आश्वस्तकारी होने पर भी उसे अधिक ध्यानाकर्षी बनाने की कोशिश में शिल्प के चमत्कारी प्रयोग की कोशिश की जाती है वहां उपन्यास अविश्वसनीय सा जान पड़ता है। शिल्प की अनावश्यक जटिलता और भाषा का खिलवाड़ आनंद हर्षुल को उन उपन्यासों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है जो कथ्य से अधिक रूप को महत्व देते हैं। हिंदी में यह प्रवृत्ति पिछली सदी के आठवें दशक में उभरती और अंतिम दशक में परवान चढ़ती हुई आज पर्यंत एक नए रूप में हमारे सामने उपस्थित हुई है। आनंद हर्षुल की यह समीक्ष्य कृति इसका जीवंत उदाहरण मानी जा सकती है। उपन्यास की सार्थकता उसके पाठक वर्ग को बांधने में है। अब देखना है कि अमूर्तन के इस नायाब तरीके को हिंदी का आलोचना जगत किस रूप में स्वीकार करता है।

निबंध

हिंदोस्तानी तहजीब का बेशकीमती आख्यान

हुस्न तबस्सुम 'निहां'

कथाकार

संपर्क :
सावित्रीबाई फुले महिला छात्रावास
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

'कितने हिंदुस्तान' बानो सरताज के लेखों का संकलन है। अध्ययन से प्रतीत होता है सरताज ने यहां-वहां बिखरे छोटे-छोटे हिंदुस्तानों को इकटठा कर एक विशाल और समृद्ध हिंदुस्तान की रचना कर डाली है। पुस्तक 'कितने हिंदुस्तान' लेखिका के ऐसे लेखों का संग्रह है जिनमें भारत की गंगा-यमुनी तहजीब को इंगित किया गया है। आज जब हिंदुस्तान तअस्सुब की आंच में तप रहा है तो ऐसे साहित्य की महती आवश्यकता हो गई है जो हमको हमारी संस्कृति और तहजीब की याद दिलाए और जो हमें एक-दूसरे से जोड़े। जो पुनः हमारे अंदर सद्भावना की संवेदनाएं जगाए और इन संभावनाओं को आगे तक ले जाने में उर्दू भाषा ने एक सेतु का काम किया है।

'कितने हिंदुस्तान' शीर्षक देखते ही सयास जेहन में कौंध जाता है-'कितने पाकिस्तान'। हिंदुस्तान बनाम पाकिस्तान एक ऐसी परिकल्पना है जिसका कहीं किसी दिशा में ओर-छोर नहीं। इस हिंदुस्तान/पाकिस्तान की पहेली से पूरा विश्व हमेशा सकते में रहता है और अचंभे में रहता है और लहालोट भी रहता है।

खैर, 'कितने हिंदुस्तान' बानो सरताज के लेखों का संकलन है। अध्ययन से प्रतीत होता है सरताज ने यहां-वहां बिखरे छोटे-छोटे हिंदुस्तानों को इकट्ठा कर एक विशाल और समृद्ध हिंदुस्तान की रचना कर डाली है। पुस्तक 'कितने हिंदुस्तान' लेखिका के ऐसे लेखों का संग्रह है जिनमें भारत की गंगा-यमुनी तहजीब को इंगित किया गया है। आज जब हिंदुस्तान तअस्सुब की आंच में तप रहा है तो ऐसे साहित्य की महती आवश्यकता हो गई है जो हमको हमारी संस्कृति और तहजीब की याद दिलाए और जो हमें एक दूसरे से जोड़े। जो पुनः हमारे अंदर सद्भावना की संवेदनाएं जगाए और इन संभावनाओं को आगे तक ले जाने में उर्दू भाषा ने एक सेतु का काम किया है। अपने लेख 'पासबा मिल गए काबे को सनमखाने से' में वह कहती हैं कि ''उर्दू भारतीयों की भाषा है। उनकी आशा है। उर्दू भाषा और साहित्य की विशेषता है कि उसने धार्मिक सहिष्णुता को सदैव शीर्ष स्थान दिया है। भारत की सांस्कृतिक विरासत से उसे जोड़ा है तो राष्ट्रीय एकता को भी केंद्र में रखा है।'' (पासबा मिल गए, पृ. 9)

हम्दिया एक प्रकार की शायरी होती है जिसमें अल्लाह व मोहम्मद की तारीफ में शेअर कहे जाते हैं। सिफत ये कि हम्दिया का पहले शायर कन्हैया लाल 'हिंदी' को माना जाता है। सबसे पहले इन्होंने ही हम्दिया दीवान तैयार किया जो नग्मा-ए-तौहीद के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार विभिन्न हिंदू शायरों, किशन प्रसाद 'शाद', दत्तूराम 'कौसरी', पंडित कुंवर गौरी प्रसाद 'हमदम', प्रोफेसर बृजनाथ 'चकबस्त' महाराजा कल्याण सिंह 'आशिक', मुंशी गोविंद प्रसाद 'फिजां' इत्यादि शायरों ने उर्दू में रचनाएं की। मुंशी ज्वाला प्रसाद 'बर्क' ने मसनवी और गजलें लिखीं। मुंशी जगन्नाथ 'खुशतर' ने धार्मिक रचनाएं रचीं। इसके सिवा तुलसी के मानस का 'रामायण-खुशतर' के नाम से अनुवाद भी किया। इसी प्रकार सूरज नारायण 'मेहर' देहलवी वेदों के ज्ञाता थे। उन्होंने हम्द की रचना भी की। उनके दो दीवान 'कलरम-ए-महर' के नाम से छपे।

नातिया शायरी ऐसी शायरी है जो पैगंबर मुहम्मद की प्रशंसा में की जाती है। नातिया शायरी करने वाले गैर-मुस्लिम शायरों की एक बड़ी खेप को इस पुस्तक में दशार्या गया है। इन रचनाकारों में-जी हैंगेस, डिनिसन, जाफर्ज बर्नार्ड शा, सरदार गुरूदत्त सिंह, रवींद्रनाथ टैगोर, गुरू नानक जैसे समाज-सुधारक, पंडित गोपाल कृष्ण, आर.के. मदेसिया और पत्रकार बेनी नारायण, मानिक राम आदि का नाम आता है।

लेखिका ने उद्धृत किया है कि ''इस मुद्दे पर भी हमारा ध्यान होना चाहिए कि प्रक्रिया एकाकी कदापि नहीं है। यदि डॉ. इकबाल ने 'हमारा वतन' नज्म में गुरू नानक और गौतम बुद्ध की स्तुति की है।'' त्रिलोक चंद ने मरहूम हजरत अली की जिंदगी का एक वाकया कविता की रचना की है। सफदर आलम 'आह' ने रामचरितमानस का उर्दू अनुवाद किया तो कन्हैया लाल 'शाद' ने रिसाला 'इल्म-ए-तसव्वुफ' लिपिबद्ध किया। जाफर अली खां 'असर लखनवी' ने गीता का काव्यबद्ध अनुवाद किया तो बशेश्वर प्रसाद मुनव्वर लखनवी ने कलाम-ए-पाक की आयत के अनुवाद किए। इस प्रकार लेखिका ने नातिया व हम्दिया गैर-मुस्लिम लेखकों की एक लंबी फेहरिस्त बनाई है, वहीं, मुस्लिम लेखकों का भी गैर-मुस्लिम धर्मग्रंथों के

पुस्तक:
कितने हिंदुस्तान
लेखिका:
बानो सरताज
प्रकाशक:
मॉडर्न पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2016
पृष्ठ: 304
मूल्य: ₹ 400

प्रति झुकाव व समर्पण को रेखांकित किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक अधिक ठीक थे कि जब हिंदू मुसलमां हाथों में हाथ लिए दिए एक-दूसरे को आत्मसात कर रहे थे। कवि गौरी प्रसाद 'हमदम' इस बात से गदगद हैं कि नबी मोहम्मद ने उन्हें नअत लिखने के अवसर प्रदान किए हैं। इसी प्रकर बाल मुकुंद 'अर्श' कालियानी ने अपना नातिया संकलन 'अहंग-ए-हिजाज' शीर्षक से प्रकाशित करवाया।

कालीदास गुप्ता 'रिजा' इस संबंध में कहते हैं कि ''उर्दू शायरी की सहिष्णुता यह कभी सहन नहीं कर सकती थी कि उसकी किसी विधा का दामन इस कदर तंग होकर रह जाए कि उसमें एक विशेष धर्म एवं वर्ग के विचार ही समा सकें और दूसरे संप्रदाय खड़े मुंह ताकते रहें। चुनांचे हम देखते हैं कि नअतगोई में हिंदू शायरों ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया है और श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर ऐसी नअतें कहीं हैं कि मुसलमान चकित रह जाएं।'' कहने का आशय यह है कि हिंदू-मुस्लिम उस दौर में इस कदर एक-मेक थे कि उनके कलाम से यह अंदाजा लगाना ही मुश्किल था कि वे हिंदू हैं या मुसलमान। उनके नाम ही उनको एक दूसरे से अलग करते थे।

अपने दूसरे लेख 'इन मुसलमान हरिजन पर कोई हिंदू वारिए' में लेखिका ने हिंदी के चारों कालों, वीरगाथा काल, आदिकाल, रीति काल एवं आधुनिक काल का जिक्र करते हुए विभिन्न भाषाओं का वर्णन किया है जिनमें सूफी कलाम लिखे गए। सूफीवाद का मतलब है प्रेमवाद। प्रेममार्गी कवियों की लंबी सूची मिलती है। यह प्रेम दो प्रकार के थे-लौकिक प्रेम (इश्क-ए-मजाजी) और अनंत प्रेम (इश्क-हकीकी)। इनमें हजरत अमीर खुसरो का नाम पहले आता है जिन्होंने पहेलियों, मुकरियों इत्यादि की भरपूर रचना की। इनकी भाषा फारसी व हिंदी मिश्रित है, मसलन-

जे हाल-ए-मिस्कीं यकुन तगाफुल,
दुराय नैना बनाय बतियां...''
(इन मुसलमान, पृ. 33)

इसी प्रकार कुतुबुन, मंझन, मुल्ला दाउद ने भी प्रेम को आध्यात्म से जोड़ते हुए अपनी गद्य रचनाएं रची हैं। इनमें पद्मावत एक अद्वितीय कृति मानी जाती है। यह एक लंबी मसनबी है। इसी प्रकार मुहम्मद शेख नबी, कासिम शाह इत्यादि ने हिंदी में उत्कृष्ट रचनाएं दीं। नूर मुहम्मद कहा करते थे कि ''मुसलमान और हिंदू का अल्लाह ईश्वर अलग तो नहीं है।'' (पृ. 45)

उदाहरण के तौर पर-

राघवेंद्र का नाम लिया जिसने भी श्रद्धा से,
रह न सकी उसके घर कहीं भी उदासी।।
(शमीम कौसर सिद्दीकी, पृ. 62)

इसी तरह सैयद महफूज हसन रिजवी का काव्य राम भक्ति काव्य है-

हे भक्त पवनसुर तुलसी
हुलसी सुत तव शत् वंदन।। (पृ. 64)

पुस्तक का एक अन्य लेख है 'यूरोपियन, इंडो-यूरोपियन एवं भारतीय ईसाईयों की उर्दू शायरी' इस लेख में लेखिका लिखती हैं-''यूरोपियन विद्वानों ने वैसे तो भारत की अनेक भाषाओं के विकास में योगदान दिया पर पर उर्दू से विशेष प्रेम किया। उर्दू उस काल में संपूर्ण भारत में बोली जाती थी। इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए उर्दू भाषा के ज्ञान को विशेष महत्व दिया।'' (पृ. 68)

'कितने हिंदुस्तान' पुस्तक का शीर्षक लेख है। इस लेख में भारत के अस्तित्व की गहरी पड़ताल की गई है जिसमें भारत के इतिहास, भूगोल से लेकर भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियों की चर्चा की गई है। यही नहीं भारत के विभिन्न नामों की भी चर्चा की गई है। जैसे- अजनाभ वर्ष, कायुर्कान, कर्म संस्थान, हैमवत वर्ष इत्यादि।

उक्त आलेख में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भारत की उर्दू भाषा ने ईसाई शायरों से दो रूखापन किया है। जो शायद उचित नहीं था। ''पर जहां यूरोपियन और हिंदी (भारतीय) मसीही शायरों की बात आती है यूरोपियन शायरों को अधिक महत्व मिला। देसी ईसाई कम आंके गए।'' (पृ. 69)

डॉ. आलिफ अंसारी ने यूरोपियन शायरों के काव्य का आकलन करते हुए कहा है -''वे यूरोपियन, जिन्होंने उर्दू भाषा में प्राविण्य प्राप्त किया उन्होंने अच्छी एवं स्तरीय शायरी के नमूने छोड़े हैं।'' (पृ. 69)

इन ईसाई कवियों में मुख्य रूप से थे- आर.पी. डेवहरेस्ट। यह गोंडा, रायबरेली और बहराइच में सेशन जज के पद पर थे। एलेक्जेंडर हैडली 'आजाद' (दिल्ली) ई.एस. फॉक्स 'खस्ता' बरेलवी, बरेली से, ईसा चरण 'सदा' लखनऊ से। ईसा चरण 'सदा' ने मिल्टन की प्रसिद्ध 'मसनवी' पैराडाईज लॉस्ट का 'फिरदौस-ए-गुमशुदा' व पैराडाईज री गेंड का 'फिरदौस-ए-मफतूह' के नाम उर्दू में लिखा -

जहन्नुम में भी ग रवह हो, खूब है
हर एक हाल में हमको मरगूब है
गुलामी से जन्नत की बेहतर है वो
कि कीचड़ में मानंद-ए-गौहर है वो।। (पृ. 74)

बेशक उर्दू जुबान भारत की गंगा-यमुनी तहजीब की प्रतीक है। इसका खाका लेखिका ने अपने लेख 'है राम के वजूद पे हिंदोस्तां को नाज' में बखूबी खींचा है। डॉ. सर मोहम्मद इकबाल ने अपनी नज्म 'बांग-ए-दरा' में राम का खूब गौरव-गान किया है।-

है राम के वजूद पे हिंदोस्तां को नाज
अहल-ए-नजर समझते हैं उसको इमाम-ए-हिंद
.....
तलवार में धनी था शुजाअत में फर्द था
पकीजगी में जोश-ओ-मुहब्बत में फर्द था।।
(पृ. 102)
सलाम 'मछलीशहरी' ने लिखा है-
आओ-आओ अयोध्या के राजकुमार
करूं तुम पे न्योछावर फूलों के हार।।
(पृ. 103)

ऐसा नहीं है कि उर्दू भाषा सिर्फ शेरो-शायरी तक ही महदूद हो। लेखिका ने अपने लेख 'उर्दू में धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद' में यह स्पष्ट किया है कि उर्दू में धार्मिक-ग्रंथों का भी खूब अनुवाद किया गया। उर्दू के वजूद को रेखांकित करते हुए पंडित बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' ने स्पष्ट किया है-''उर्दू शब्द, दो शब्दों-'उर' तथा 'दू' से मिल कर बना है। संस्कृत भाषा में उर का मतलब हृदय होता है तथा फारसी में दू का अर्थ है 'दो'। इस तरह से उर्दू दो दिलों तथा दो भाषाओं 'राष्ट्रीय एवं भाषाई' मिलाप की ओर इंगित करती है।'' (पृ. 145)

इस प्रकार दर्शाया गया है कि विभिन्न उर्दू व अन्य भाषा के लेखकों ने तमाम धर्म ग्रंथों का भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद किया। कुरआन का तजुर्मा भी विभिन्न भाषाओं में विद्वानों ने किया।

'उर्दू साहित्य में हिंदू-देवमालाई संदर्भ' के अंतर्गत पौराणिक व धार्मिक कथा कहानियों तथा अलौकिक परिकल्पनाओं पर एक विस्तृत चर्चा की गई है। यह लेख हिंदी साहित्य के छात्रों, पाठकों, विद्वानों के लिए एक जरूरी लेख है। हालांकि विद्वान इसे हानिकारक मानते हैं, हिंदी साहित्य के लिए। विज्ञान इसके बिलकुल खिलाफ है क्योंकि ये मिथक-आधारित साहित्य होता है। पुस्तक का एक अन्य लेख है-'आदमीयत इसी का नाम है।' यह गीता की महिमा पर आधारित है। गीता संस्कृत भाषा में है जिसे उर्दू लेखकों ने उर्दू भाषा में अनुदित किया है। सुल्तान अहमद सिद्दीकी उर्दू के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-''श्रीमदभगवद् गीता एक भाग है उस शाहकार महाकाव्य महाभारत का जिसे महर्षि वेदव्यास जी ने पांच-छः सहस्र वर्ष पूर्व लिखा था। इस महाकाव्य में उस महायुद्ध का वर्णन है जो कौरवों और पांडवों के मध्य कुरूक्षेत्र में अट्ठारह दिनों तक लड़ा गया था। (पृ. 87)

साहिर लुधियानवी ने गीता के संदेश और कठिन समय में और मानवता की रक्षा में श्री कृष्ण की भूमिका का सुंदर वर्णन किया है-

कृष्ण ने वादा किया था कि वो फिर आएंगे
जब भी धरती पर गुनाहों का अंधेरा छाया
जब भी जुल्म-ओ-शकावत का अमल लहराया
कृष्ण ने वादा किया था कि वो फिर आएंगे।।
(पृ. 190)

इसी प्रकार कैफ रूदूलवी ने गीता के दूसरे अध्याय में 55 से 72 तक के श्लोकों को 'तजल्लियात-ए-गीता का एक वरक' के नाम से गीता में वर्णित श्लोकों का उर्दू में अनुवाद किया है। यह श्लोक गीता की आत्मा कहे जाते हैं। गांधीजी

इन्हें पूजा में पढ़ा करते थे। उदाहरण के तौर पर ये पंक्तियां-

जिसने भी ख्वाहिशात को दिल से मिटा दिया,
रूहानियत में सिद्क से जो म' हो गया
दिल उसका मुतमइन है खिरद उसका मुतमइन
अर्जुन इसी से रहती है दुनिया मुतमइन।।
(पृ. 199)

उर्दू शायरी में त्योहारों का जिक्र बखूबी आया है। लेख 'उर्दू शायरी में हिंदू त्योहार' में इस पर विस्तार से चर्चा की गई है। विविधता में एकता भारत की एक अलहदा किस्म की खासियत है और यह खासियत भारत को अन्य मुल्कों से श्रेष्ठ बनाती है। भारत की यही गंगा-यमुनी तहजीब उर्दू की शायरी में भी नजर आती है। इसे हम इन शायरों के कलाम में देख भी सकते हैं-

हर एक मकां में फिर दीया जला दीवाली का
हर एक तरफ को उजाला हुआ दीवाली का
सभी के लिए ये समां आ गया दीवाली का
किसी के दिल को मजा खुश लगा दीवाली का।।
(नजीर अकबराबादी, पृ. 214)

जिधर देखो उधर कौस-ए-कजह रख्शंदा हो जैसे
अजब रंगीनी व रअनाई का त्योहार है होली
नहीं है आज के दिन इम्तियाज-ए-आला-ओ-अदना
जो बंट जाता है हर फिरक में वो इक प्यार है होली
यहां ढोलक की हर थाप पर दिल नाच उठते हैं
बहुत प्यारा हमारे देश का त्योहार है होली।।
(बाकर अली, पृ. 223)

'कितने हिंदुस्तान' पुस्तक का शीर्षक लेख है। इस लेख में भारत के अस्तित्व की गहरी पड़ताल की गई है जिसमें भारत के इतिहास, भूगोल से लेकर भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियों की चर्चा की गई है। यही नहीं भारत के विभिन्न नामों की भी चर्चा की गई है। जैसे- अजनाभ वर्ष, कायुर्कान, कर्म संस्थान, हैमवत वर्ष इत्यादि। फिर भी भारत का नाम भारत कैसे पड़ा इसमें मतभेद है और यह चर्चा काफी अर्से से चली आ रही है और चलती ही जाएगी। इसके सिवा इस अध्याय में अन्य बिंदुओं पर भी चर्चा की गई है जैसे कि- भारतीयता की परिभाषा, भारतीयता के लक्षण, भारतीयताः उर्दू काव्य में, आध्यात्म और भक्ति, भारतः विभिन्न धर्मों की संगम-स्थली, भारत में नगर ऐतिहासिक धरोहर, भारत की कला, कृषि प्रधान देश भारत, भारत की वन संपदा इत्यादि।

पुस्तक का अंतिम लेख है-'संस्कृतेत्तर भाषियों की संस्कृत सेवा'। इस लेख में देव वाणी भाषा संस्कृत पर एक प्रकार का विमर्श है। जहां तक मेरा व्यक्तिगत खयाल है कि बेशक संस्कृत देववाणी जरूर है, निर्वाण-भाषा भी है किंतु यह आम आदमी की भाषा नहीं है। फिर जहां क्षेत्रीय

बानो सरताज की पुस्तक 'कितने हिंदुस्तान' एक पठनीय व संग्रहणीय दस्तावेज है, यही नहीं यह साहित्य के विद्यार्थियों तथा साहित्य में रुचि रखने वाले बुद्धिजीवियों के लिए एक बेशकीमती धरोहर की तरह है। इस शोधपरक पुस्तक रचना के लिए लेखिका को बहुत-बहुत बधाई व नेक ख्वाहिशात।

भाषाओं का जाल बिछा पड़ा हो, जहां खुद हिंदी ही संकट में है वहां ये अपेक्षा करना कि संस्कृत बोली जाए, समझी जाए, महज एक खुशफहमी है। बहरहाल वर्तमान में इसकी क्या प्रासंगिकता है इस पर एक तबील बहस और गंभीर चिंतन की आवश्यकता है। संस्कृत भाषा के महत्व को मुस्लिम विद्वानों ने भी कम महिमा मंडित नहीं किया है। अब्बासी खलीफा हारून रशीद के काल में संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद के लिए भारत से हिंदू पंडित बुलाए।

अब्दुल रेहान अल्बरूनी ने हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने के लिए भारत आकर संस्कृत सीखी। अबुल मअशर ने भारत में 10 वर्ष तक रह कर संस्कृत सीखी तथा संस्कृत के सभी प्रमुख ग्रंथों का अध्ययन कर एक वृहद् पुस्तक तैयार की। इसी प्रकार दारा शिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में किया। पुस्तक में उद्धृत है कि ''सर विलियम जोंस 1783 में सुप्रीम कोर्ट का जज बन कर भारत आया। वह लैटिन, हिब्रू, यूनानी, फारसी इत्यादि भाषाओं का ज्ञाता था। भारत पहुंच कर उसने संस्कृत सीखी।'' (पृ. 301) सम्राट अकबर के आदेश से अल्लामा फैजी ने सर्वप्रथम गीता का अनुवाद किया। उर्दू में गीता के लगभग 48 अनुवाद हुए हैं।

उक्त आलेखों से स्पष्ट होता है कि जो प्रगतिशीलता भाषा को लेकर उस दौर में थी, अब नहीं है। तब भाषा का कोई समूह अथवा धर्म नहीं होता था। हिंदू उर्दू सीखने को लालायित रहते थे तो मुसलमान संस्कृत सीखने को। भाषाएं, बोलियां सांप्रदायिकता के दायरे से बाहर थीं। किंतु आज स्थिति उलट है। भाषाओं को भी अलग-अलग दायरे में बांध दिया गया है। भाषाओं का राजनीतिकरण होने लगा है और विभिन्न सरकारें अपने-अपने हिसाब से भाषाओं की हत्या करती रहती हैं।

कुल मिलाकर पुस्तक 'कितने हिंदुस्तान' एक पठनीय व संग्रहणीय दस्तावेज है, यही नहीं यह साहित्य के विद्यार्थियों तथा साहित्य में रुचि रखने वाले बुद्धिजीवियों के लिए एक बेशकीमती धरोहर की तरह है। इस शोधपरक पुस्तक रचना के लिए लेखिका को बहुत-बहुत बधाई व नेक ख्वाहिशात।

संवैधानिक आयामों की वैचारिकी

जय सिंह

साहित्यकार

संपर्क :
33 ए, अनुकंपा अपार्टमेंट्स (एनटीपीसीएंड ईआईएल) अभयखंड-4, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.)

अंबेडकर पर बात चलेगी तो उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सोच तथा लोकतंत्र पर उनके सिद्धांतों और विचारों को जानें बिना हर बात अधूरी रहेगी। यदि आप डॉक्टर भीमराव अंबेडकर के भारतीय लोकतंत्र, राष्ट्रीय आंदोलन और संवैधानिक आयामों पर विचारों को एक जगह पढ़ना-समझना चाहते हैं, बिना किसी एकपक्षीय विश्लेषण के, तो रमेश चावला की शोध आधारित पुस्तक 'भीमराव अंबेडकर और भारतीय लोकतंत्र' को पढ़ सकते हैं।

भारतीय राजनीति-लोकतंत्र, समाज और भारतीय संविधान पर जब भी बात की जाएगी, भीमराव अंबेडकर पर बात करनी होगी। अंबेडकर पर बात चलेगी तो उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सोच तथा लोकतंत्र पर उनके सिद्धांतों और विचारों को जानें बिना हर बात अधूरी रहेगी। यदि आप डॉक्टर भीमराव अंबेडकर के भारतीय लोकतंत्र, राष्ट्रीय आंदोलन और संवैधानिक आयामों पर विचारों को एक जगह पढ़ना-समझना चाहते हैं, बिना किसी एकपक्षीय विश्लेषण के, तो रमेश चावला की शोध आधारित पुस्तक 'भीमराव अंबेडकर और भारतीय लोकतंत्र' को पढ़ सकते हैं।

पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं। पहला अध्याय 'डॉ. अंबेडकर का विचार दर्शन' है। पहले अध्याय में ही लेखक इस पुस्तक की आवश्यकता और महत्ता दोनों को रेखांकित कर देता है और उस शोध पद्धति को भी सामने रखता है जिसका पुस्तक में अंत तक निर्वहन किया गया है।

बचपन में अंबेडकर की पारिवारिक-सामाजिक स्थिति, पढाई-लिखाई का वातावरण और उस दौरान किन-किन लोगों का उनके जीवन और मन पर प्रभाव पड़ा, विशेषकर वैचारिक प्रभाव - इसका विवेचन है। अंबेडकर का विचार दर्शन उस दौर के तीन महापुरुषों से प्रभावित एक समग्र दर्शन है जिसे अंबेडकर ने तार्किकता के चश्मे से परखा फिर उसके प्रमुख तत्वों-विचारों को अपनाया। ये तीन महापुरुष हैं-गौतम बुद्ध, कबीर और ज्योतिबा फुले। लेकिन अंबेडकर के विचार सिर्फ इन्हीं तीनों के विचारों का मिश्रण भर नहीं। लेखक तमाम सामग्री जुटाकर यह स्थापित करते हैं कि जो कुछ अंबेडकर ने पढ़ा-सीखा और उसके बाद तमाम विषयों पर कहा है उसमें उनके जीवन, सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष का सबसे बड़ा योगदान है। फिर भी, करुणा और आध्यात्मिकता बुद्ध से, मनुष्यवाद कबीर से और ब्राह्मणवाद, छुआछूत आदि का विरोध उन्होंने फुले से ग्रहण किया। इस अध्याय को पढकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंबेडकर एक विचारक के रूप में उदारवादी हैं जो सबकी सुनते हैं लेकिन जिस मध्ययुगीन सामंती समाज में वे रह रहे थे वहां उदारवाद का कोई स्थान नहीं बल्कि वे मानते हैं और दुनिया के सामने अपना विचार भी रखते हैं कि जिस लड़ाई को वे लड़ रहे हैं उसे जीतना तो दूर, लड़ा भी नहीं जा सकता। हम सब जानते हैं कि ये लड़ाई निर्धनता, असमानता और सामाजिक शोषण के खिलाफ थी। अंबेडकर का स्पष्ट विचार था कि दलित जातियों को सत्ता में भागीदारी करनी होगी तभी असमानता और सामाजिक शोषण से छुटकारा मिल सकता है। जातिवाद, छुआछूत और असमानता के वे स्वयं शिकार थे। वे इसके स्थाई समाधान को तलाश रहे थे जो इतना आसान नहीं था। वे तत्कालीन समाज व्यवस्था को बदलना चाहते थे। उन्हें लगता था कि जब तक राजनीतिक व्यवस्था में दलितों, शोषितों की भागीदारी नहीं होगी इस लक्ष्य को पाना नामुमकिन है। अपनी विवशता और लाचारी के बावजूद उन्होंने अपना सामाजिक संघर्ष जारी रखा, हालांकि कोई रास्ता नहीं दिखाई देने पर उन्हें आहत होकर कहना भी पड़ा- 'यदि मैं उस समाज की घृणित दासता और अमानुषिक अन्याय को, जिससे वह पीड़ित हैं जिससे मैं भी पैदा हुआ हूं, दूर करने में असफल रहा तो मैं गोली मारकर अपने जीवन को समाप्त कर लूंगा।' अंबेडकर सामाजिक अन्याय और शोषण से किस कदर पीड़ित थे, उनके इस विचार को जानकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जो धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करता हो उसे वे धर्म नहीं मानते थे। यहीं पर बुद्ध उनके लिए प्रासंगिक हो जाते हैं।

अंबेडकर स्वयं दासता, शोषण, गरीबी और असमानता के शिकार थे अतः उनका सामाजिक और राजनीतिक अध्ययन इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता है, इस पहले अध्याय में अंबेडकर के उन सिद्धांतों को सामने लाना महत्वपूर्ण है। क्योंकि इनके बारे में आम पाठकों को कम ही जानकारी है। संक्षिप्त में इन्हें इस तरह समझा जा सकता है- सामाजिक शक्ति का सिद्धांत, समानता का सिद्धांत, स्वतंत्रता का सिद्धांत, बंधुता का सिद्धांत, न्याय का सिद्धांत, निरंतर संघर्ष का सिद्धांत, सामाजिक लोकशाही का सिद्धांत, सामाजिक नैतिकता का सिद्धांत। इनमें डॉ. अंबेडकर के प्रतिपादित सिद्धांतों को विस्तार से समझाया गया है। इनके पक्ष में लेखक ने अंबेडकर पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित पुस्तकों का सहारा लिया है।

इन सिद्धांतों के अलावा, लोकशाही क्या है, राजनीतिक लोकशाही का दर्शन, समान मताधिकार, मूल अधिकार की परिकल्पना, समान नागरिक कानून, कानून और राज्य व्यवस्था में क्या समानता है, राज्य और समाज की क्या धारणाएं हैं, धर्म और राजनीति, धर्म और राज्य, पंचायती राज, अल्पसंख्यक, विभूति पूजा, शासन प्रणाली, कृषि, उद्योग, भूमि का राष्ट्रीयकरण,

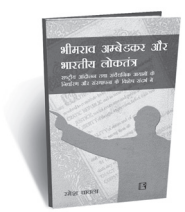

पुस्तक:
भीमराव अंबेडकर और भारतीय लोकतंत्र
लेखक:
रमेश चावला
प्रकाशक:
रावत पब्लिकेशन, जयपुर
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 269
मूल्य: ₹ 865

औद्योगीकरण, बंधुआ मजदूरी का विरोध, छोटे राज्यों के निर्माण की पैरवी और सबसे महत्वपूर्ण जाति पर आधारित व्यवसायों का विरोध आदि पर अंबेडकर के विचार जानकर उनके बारे में स्थापित तमाम धारणाएं टूट जाती हैं। लेखक ने भी अध्याय के अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि जिन विद्वानों की पुस्तकों का यहां संदर्भ दिया गया है उन्होंने भी अंबेडकर के राष्ट्रीय आंदोलन एवं स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में किए गए प्रयासों को अपने अध्ययन में बहुत ही न्यूनतम स्थान दिया है तथा उनके द्वारा संविधान निर्माण की दिशा में अदा की गई भूमिका की ओर भी अधिकांश विचारकों ने उतना ध्यान नहीं दिया है, जितनी महती भूमिका डॉ. अंबेडकर ने इस दिशा में निभाई। अंबेडकर के ये सिद्धांत निस्संदेह उस दौर की समाज संरचना, जातियों की संरचना, राजनीतिक संरचना और साथ ही दुनिया के अन्य हिस्सों में सामाजिक-राजनीतिक संरचना को समझने में बेहद मदद करते हैं। लेखक ने इन विचारों का संकलन मात्र नहीं किया है बल्कि उनका विश्लेषण नए परिप्रेक्ष्य में किया है। निश्चित ही, पहला अध्याय पढकर आप अंबेडकर के और समीप आ जाते हैं तथा उनके जीवन और संघर्षों के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ जाती है।

किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में उसके बचपन, स्कूली शिक्षा, अध्यापक, पुस्तकें और सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसकी तथा उसके परिवार की समाज में क्या स्थिति है, इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। भीमराव अंबेडकर के व्यक्तित्व पर केंद्रित दूसरे अध्याय में भीमराव अंबेडकर की पारिवारिक पृष्ठभूमि, अध्ययन, अध्यापन, सार्वजानिक जीवन में प्रवेश और विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं का उनपर क्या प्रभाव पड़ा इसका आकलन है। उनके पिता सेना की नौकरी से सेवानिवृत होकर महू (मध्य प्रदेश) से जाकर महाराष्ट्र के दापोली नगर में बस गए, जहां एक प्राथमिक पाठशाला में अंबेडकर का दाखिला करा दिया। तब अंबेडकर की आयु पांच वर्ष थी। पिता को जब सतारा में नौकरी मिली तो वे भी सतारा आ गए। छह वर्ष की आयु थी, माता का निधन हो गया। लालन-पालन बुआ ने किया लेकिन पढ़ाई और चरित्र निर्माण में पिता का योगदान रहा। पुस्तक इस तथ्य को रेखांकित करती है कि अंबेडकर के चरित्र की जो नींव पड़ी, उसमें संयम, परिश्रम, समाज सेवा और धर्मशीलता जैसे गुण पिता की देन थे। पुस्तकों के प्रति प्रेम पिता ने ही जगाया। इस प्रेम को परवान चढ़ाने में उनके विल्सन हाई स्कूल के सहायक अध्यापक कृष्णजी केलुस्कर ने भरपूर मदद की। उन्हें जब पता चला कि जो लड़का हर वक्त पढ़ता रहता है, वह अछूत है तो वे उसे पढ़ने के लिए किताबें देने लगे। इन्हीं किताबों में एक उनकी लिखी हुई थी 'लाइफ ऑफ गौतम बुद्ध' जिसने अंबेडकर को काफी प्रभावित किया। यहां से लेकर आगे की पढाई में किस तरह कठिनाइयां आईं, उच्च अध्ययन के लिए अमरीका जाना, भारत वापसी, फिर लंदन जाना और 1920 में सार्वजानिक जीवन की शुरुआत तक अंबेडकर गरीबी, छुआछूत, सामाजिक असमानता और शोषण का दंश झेलते रहे।

'भीमराव अंबेडकर और भारतीय लोकतंत्र' एक शोध पुस्तक है लेकिन अन्य शोध पुस्तकों की तरह इसकी भाषा क्लिष्ट नहीं है। गंभीर विषय और विचार-विमर्श के बावजूद पुस्तक पठनीय बन गई है। हालांकि प्रूफ की गलतियां हैं जिनको नजरंदाज किया जा सकता है।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश के बाद तो उनका संघर्ष बढ़ता ही गया, साथ ही इसका स्वरूप भी। इस सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष को पुस्तक में अहम स्थान दिया गया है। देखा जाए तो यही समय है जब भारत में दलितों के उत्थान हेतु गंभीर प्रयास शुरू हुए जिनका श्रेय केवल अंबेडकर को जाता है। इस दौर में हुए महाड़ सत्याग्रह, साइमन कमीशन, नासिक सत्याग्रह, वर्ग कांगेस, प्रथम और द्वितीय गोलमेज सम्मलेन, पूना समझौता, द्विराष्ट्रवाद सिद्धांत, क्रिप्स प्रस्ताव, भारत छोड़ो, शिमला सम्मेलन, केबिनेट मिशन, संविधान सभा, भाषाई प्रांत, हिंदू कोड बिल और पहला आम चुनाव आदि अति महत्वपूर्ण घटनाएं हैं जिन्होंने अंबेडकर ही नहीं भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को बदलकर रख दिया। इन सब में अंबेडकर की भूमिका प्रमुख थी जिसे यहां बड़ी सफलता के साथ रेखांकित किया गया है। कबीर, गौतम बुद्ध और ज्योतिबा फुले के बाद जॉन ड्युबी, वूकर टी. वाशिंगटन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी अंबेडकर को प्रभावित किया।

पुस्तक के सबसे महत्वपूर्ण तीसरे अध्याय में राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता प्राप्ति में डॉ.अंबेडकर की भूमिका का विवेचन है। यह दौर भारतीय राजनीति का अहम दौर माना जाता है क्योंकि इस समय तक कांग्रेस देश को स्वतंत्र करने के लिए आंदोलन छेड़ चुकी थी। कांग्रेस के साथ देश की तमाम विचारधाराएं भी इस मुहिम में बढ़-चढकर हिस्सा ले रही थीं। लेकिन एक व्यक्ति ऐसा था जिसके लिए राजनीतिक स्वतंत्रता से कहीं अधिक सामाजिक स्वतंत्रता महत्व रखती थी। ये व्यक्ति कोई और नहीं, डॉ. अंबेडकर थे। कांग्रेस राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए लड़ रही थी तो अंबेडकर सामाजिक स्वतंत्रता के लिए अपने जीवन की कठिनतम लड़ाई लड़ रहे थे। कठिनतम इसलिए कि देश के अधिसंख्य नेता और सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. अंबेडकर के संघर्ष को कमतर करने या कहें कि नकारने और असफल करने में लगे हुए थे। उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी भूमिका स्पष्ट करने के साथ अंग्रेजों से भी विरोध झेलना पड़ रहा था। बावजूद इन कठिनाइयों और रुकावटों के उन्होंने सामाजिक संघर्ष को परिणिति तक पहुंचाया, साथ ही संविधान निर्माण में अपनी महती भूमिका निभाकर राष्ट्र के प्रति सच्ची श्रद्धा को भी प्रदर्शित किया जबकि आज तक राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को कांग्रेस के साथ-साथ अन्य विचारधाराओं ने भी नजरंदाज किया है। ये आश्चर्य कर देने वाली बात है कि उन्हें एक खास जाति, समुदाय का नेता बनाने के कुत्सित प्रयास किए गए जिनमें ऐसे प्रयास करने वालों को सफलता भी मिली। इस पुस्तक में इन तमाम बातों और हालातों को बड़ी सटीकता के साथ रखा गया है कि डॉ. अंबेडकर सच्चे राष्ट्रभक्त थे और वे किसी भी राष्ट्रवादी से कहीं अधिक दूर तक सोचने वाले और विभिन्न जातियों, संप्रदायों और गुटों में बंटे देश को कैसे एक राष्ट्र बनाया जा सकता है इस पर ठोस विचार रखने वाले भारतीय थे। संविधान निर्माण की मसौदा समिति के समक्ष दिए उनके भाषण से ही देश की अखंडता और एकता के प्रति उनके विचारों को समझा जा सकता है। उन्होंने कहा- ''मुझे इस देश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बनावट के भविष्य के संबंध में कोई संदेह नहीं है। आज मैं जानता हूं, हम राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तौर पर बंट गए हैं। इन सबके बावजूद, मैं विश्वास दिलाता हूं कि समय और परिस्थितियां और इस विश्व की अन्य शक्तियां भी इस देश को एक होने से नहीं रोक सकती हैं। यहां तक कि हमारी जातियां तथा धर्म विभिन्न होने पर भी हम सब एक होने से नहीं रुक सकते हैं। हम किसी तरह से एक हैं, यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं है।'' दूसरी तरफ नेहरू रिपोर्ट में संविधान का प्रारूप तय करने के लिए दलितों के लिए प्रतिनिधित्व की कोई बात ही नहीं की गई बल्कि वयस्क मताधिकार देने से इनका दर्जा ऊपर उठ जाएगा

और इनकी शक्ति में वृद्धि होगी जैसे तर्क दिए गए। अलग अधिकार देने को निकम्मा और हानिकारक तक बताया गया। ऐसी बहुत सी चौंकाने वाली बातें इस अध्याय में हैं जो पाठकों को सोचने-समझने पर मजबूर करती हैं।

नासिक का कालाराम मंदिर सत्याग्रह, सांप्रदायिक पंचाट (कम्युनल अवार्ड), जिसमें रेम्जे मेक्डोनाल्ड ने अल्पसंख्यकों को आरक्षण की व्यवस्था की, हरिजन आंदोलन (अस्पृश्यता निवारण के लिए कांग्रेस का आंदोलन), गांधीजी द्वारा 'अखिल भारतीय छुआछूत निवारण संघ की स्थापना (अंबेडकर ने इसमें अछूतों का प्रतिनिधित्व मांगा)। इसी संघ को बाद में हरिजन सेवक संघ कर दिया गया। अंबेडकर ने क्रिप्स प्रस्ताव और भारतीय शासन अधिनियम-1935 का विरोध किया। क्रिप्स प्रस्ताव, साइमन कमीशन और भारतीय शासन अधिनियम-1935 के बाद से अंबेडकर ब्रिटिश सरकार के और भी कटु आलोचक बन गए। उससे पहले उन्हें आशा थी कि ब्रिटिश हुकूमत उनकी बातों पर गौर करेगी और अपने शोषित और वंचित समुदाय के लिए वे सरकार से कुछ हासिल कर लेंगे।

देखा जाए तो डॉ. अंबेडकर की भूमिका कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। उनके सामने वंचितों के अधिकारों का पाना था तो साथ ही देश की एकता को बनाना और उसे मजबूत करना भी। तमाम अड़चनों के बाद भी अंबेडकर ने हार नहीं मानी, वे अपने लक्ष्य से डिगे नहीं। उनके लिए राष्ट्रीयता भी कम आवश्यक नहीं थी। लेखक ने उनकी भूमिका को महत्वपूर्ण उद्धहरणों से सिद्ध करने में सफलता पाई है। अंबेडकर की वैचारिक, सामाजिक समानता के लिए किए गए प्रयासों को ईमानदारी से पाठकों के सामने रखा है।

सामाजिक न्याय और दलितोत्थान में अंबेडकर की भूमिका से सारी दुनिया परिचित है। उनके राजनीतिक-वैचारिक और सामाजिक आंदोलनों के चलते ही देश में दलितों को उनके सदियों से छीने गए अधिकार प्राप्त हो सके। इसलिए यह चौथा अध्याय और भी महत्वपूर्ण है। यों तो डॉ. अंबेडकर के दलितोत्थान के लिए किए गए संघर्षों पर दुनियाभर में काफी कुछ लिखा जा चुका है लेकिन तमाम विद्वानों के सटीक विचारों और अंबेडकर के अपने विचारों को एक जगह रखकर उन्हें परखने की पहल यहां देखने को मिलती है। इससे पाठकों को बड़ी सहूलियत हो जाती है क्योंकि उन्हें अपना नजरिया बनाने का आधार मिल जाता है। अध्याय सामाजिक जीवन में अंबेडकर के पदार्पण के बाद एक आदर्श समाज की रचना, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों को व्यावहारिक धरातल पर उतारने में आने वाली कठिनाइयों पर फोकस करता है। पूना पैक्ट के बाद तो उन्हें अपने समुदाय का भी विरोध झेलना पड़ा। दलित समुदायों को लगा कि पूना पैक्ट से उन्हें कुछ खास हासिल नहीं हुआ और इसके लिए वे अंबेडकर को भी जिम्मेदार मानने लगे थे। निश्चित ही ये समय अंबेडकर के लिए काफी कठिन और विचलित करने वाला रहा होगा। सामाजिक न्याय एवं अंबेडकर, सामाजिक न्याय एवं भारतीय संविधान, समाजिक न्याय की स्थापना एवं आरक्षण व्यवस्था के आधार पर यहां अंबेडकर के महत्वपूर्ण विचारों को

'डॉ. अंबेडकर एक ऐसे समाज की स्थापना के पक्षधर थे, जो सामाजिक न्याय पर आधारित हो, जिसमें अन्याय, शोषण, गरीबी आदि के लिए कोई स्थान न हो। जहां समाज में जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर न कोई बड़ा हो, न कोई छोटा।' अंबेडकर के इन विचारों पर हमने क्या अभी तक अमल किया है? उत्तर हम सभी जानते हैं। यह पुस्तक भी तमाम ऐसे विचारों के अनुत्तरित प्रश्नों के जवाब खोजने का सफल प्रयास है।

सामने लाया गया है। सामाजिक न्याय अंबेडकर का सबसे बड़ा और प्रमुख लक्ष्य था जिसे पाने के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया। संविधान में अनुच्छेद 15 के तहत जो प्रावधान अंबेडकर ने किए वे उनके सामाजिक न्याय के विचारों की पुष्टि करते हैं। आरक्षण की व्यवस्था पर वे जब कहते हैं कि एक न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के लिए आरक्षण जरूरी है। तो इस विचार से असहमत नहीं हुआ जा सकता। यही विचार अंबेडकर की शक्ति थे। राज्य एवं समाज, राज्य और शक्ति, तानाशाही बनाम लोकतंत्र, राजनीतिक प्रजातंत्र, लोकतांत्रिक सरकार का स्वरूप, संसदीय प्रजातंत्र के अंग, विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका, लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक पूर्व दशाएं, राजनीतिक दल, सशक्त विरोधी दल का अस्तित्व में होना, कानून और प्रशासन की दृष्टि में समानता, समाज में चेतना, भारत में संसदीय लोकतंत्र का भविष्य और सामाजिक प्रजातंत्र की स्थापना आदि संविधान के अति महत्वपूर्ण विषयों पर अंबेडकर के ठोस विचारों को इस अध्याय की विशेषता कह सकते हैं। भारतीय संविधान के निर्माण में इन सभी तत्वों का समावेश निश्चित ही बड़ी चुनौतियां रही होंगी अंबेडकर के लिए। इन्हीं चुनौतियों और इनसे निपटने के लिए अंबेडकर के विचारों को जानना महत्वपूर्ण है।

इन चुनौतियों को पार करने के बाद अंबेडकर के सामने भारतीय संविधान के प्रारूप का निर्धारण करना था। कांग्रेस और अन्य नेता हरगिज नहीं चाहते थे कि अंबेडकर संविधान सभा में पहुंचें। वे संविधान सभा में कैसे पहुंचे और कैसे प्रारूप को तैयार किया, जानना दिलचस्प है। यहां अंबेडकर के वैचारिक और सामाजिक संघर्ष की कठिन परीक्षा देखने को मिलती है। प्रस्तावना, भारतीय स्वाधीनता एक्ट, मौलिक अधिकार, नारी के समान अधिकार, श्रम शोषण की समाप्ति, अस्पृश्यता, राष्ट्र भाषा और भाषा संबंधी विचार और सबसे अहम अनुसूचित जाति/जनजाति की स्थिति में सुधार आदि पर अंबेडकर के विचारों को सुव्यवस्थित तरीके से पाठकों के सामने रखा गया है। इन्हें पढकर पता चलता है कि अंबेडकर के मन में दलितों-वंचितों के अलावा, राष्ट्र, भाषा, महिलाओं के अधिकारों के प्रति भी उतनी ही संवेदना थी।

डॉ. अंबेडकर की जो छवि आम भारतीयों के बीच बनी है (या बनाई गई है) उसमें उनके सामाजिक आंदोलन को ही सामने रखकर एक दायरे में समेट दिया गया है। एक तरह से यह उनके साथ अन्याय है। पुस्तक का सातवां अध्याय इस दायरे को तोड़कर उन्हें एक विस्तृत फलक प्रदान करता है। लेखक ने इस अध्याय में अंबेडकर के आर्थिक विचारों को जांचा-परखा है। शीर्षक भी इसी तरह का है-'डॉ. भीमराव अंबेडकर के आर्थिक विचार और नीतियां। देखा जाए तो अंबेडकर मूलतः अर्थशास्त्री थे। उनका अध्ययन और अध्यापन के विषय भी अर्थशास्त्र से संबंधित थे। प्रस्तुत अध्याय में आर्थिक नीतियों और उनपर अंबेडकर के विचारों को परखा गया है। ये विचार आज भी समीचीन हैं। भारतीय मुद्रा पर उनके शोधपरक विचारों को अंतरराष्ट्रीय अर्थ जगत में भी मान्यता हासिल है लेकिन देश में उनके इन विचारों का उतना प्रचार-प्रसार नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। उनके वित्तीय विकेंद्रीकरण संबंधी दृष्टिकोण, आवंटन द्वारा बजट, आवंटित राजस्व द्वारा बजट, साझा राजस्व द्वारा बजट, प्रांतीय वित्त, भारतीय मुद्रा की समस्याओं पर विचार, दोहरे मन से रजत मान में, रजत मान, रजत मान की अस्थिरता के दोष, स्वर्णमान की ओर, स्वर्ण विनिमय मान, विनिमय मान का परीक्षण और स्वर्ण मान की वापसी जैसे विशुद्ध वित्तीय विषयों पर अंबेडकर के विचारों की प्रासंगिकता अभी भी बनी हुई है। ये विचार वित्तीय संस्थाओं से लेकर छात्रों और शोधार्थियों तक के लिए महत्वपूर्ण हैं जिनको अपनाकर वर्तमान वित्तीय संकटों के समाधान निकाले जा सकते हैं।

आठवां और अंतिम अध्याय सारांश और शोध निष्कर्ष पर केंद्रित है। सच में यह अध्याय पूरी पुस्तक का सार है। इसकी विशेषता है अंबेडकर के पुस्तक में सम्मिलित किए विभिन्न विचारों को बिंदुवार प्रस्तुत करना। किसी कारणवश यदि पिछले अध्यायों में कुछ छूट गया है तो पाठक यहां पर संक्षेप में जान सकता है।

अंत में लेखक निष्कर्ष निकालता है-'इस प्रकार डॉ. अंबेडकर एक ऐसे समाज की स्थापना के पक्षधर थे, जो सामाजिक न्याय पर आधारित हो, जिसमें अन्याय, शोषण, गरीबी आदि के लिए कोई स्थान न हो। जहां समाज में जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर न कोई बड़ा हो, न कोई छोटा।' अंबेडकर के इन विचारों पर हमने क्या अभी तक अमल किया है? उत्तर हम सभी जानते हैं। यह पुस्तक भी तमाम ऐसे विचारों के अनुत्तरित प्रश्नों के जवाब खोजने का सफल प्रयास है।

भीमराव अंबेडकर और भारतीय लोकतंत्र एक शोध पुस्तक है लेकिन अन्य शोध पुस्तकों की तरह इसकी भाषा क्लिष्ट नहीं है। गंभीर विषय और विचार-विमर्श के बावजूद पुस्तक पठनीय बन गई है। हालांकि प्रूफ की गलतियां हैं जिनको नजरंदाज किया जा सकता है।

प्रवासी साहित्य का अनुशीलन

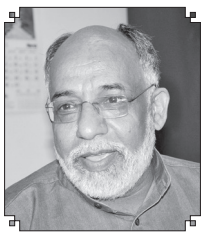

सूरज प्रकाश

कथाकार

संपर्क :
बी. 901,
lake Lucerne,
lake home,
पवई, मुंबई-400076

इस बात में कोई दो राय नहीं कि प्रवासी साहित्यकारों की समस्याएं एकदम अलग हैं, उनके साहित्य की मनोभूमि अलग है और जो हम यहां से देख रहे हैं, लिख रहे हैं, जी रहे हैं, उससे उनका जीवन बिलकुल अलग है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर कथाकार, आलोचक, समीक्षक डॉक्टर विजय शर्मा ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक- सात समंदर पार से... तैयार की है और इस क्षेत्र में बहुत अरसे से महसूस की जा रही सहायक सामग्री और संदर्भ साहित्य की कमी को दूर किया है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने अपनी बात को दो खंडों में शामिल करते हुए 36 लेखों के जरिए सामने रखने की कोशिश की है।

इधर कुछ अरसे से प्रवासी साहित्य चर्चा के केंद्र में है। विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और अकादमियों में प्रवासी साहित्य को लेकर संगोष्ठियां और सेमिनार आयोजित किए जा रहे हैं और विभिन्न पत्रिकाएं प्रवासी साहित्य पर केंद्रित करते हुए विशेषांक निकाल रही हैं। प्रवासी साहित्य को लेकर तरह-तरह की चिंताएं और संभावनाएं व्यक्त की जा रही हैं।

आंकड़े बताते हैं कि लगभग 48 देशों में 2 करोड़ प्रवासी भारतीय रह रहे हैं और उनमें से बहुत सारे ऐसे हैं जो रचनात्मक साहित्य से जुड़े हुए हैं। जरूरी नहीं कि ये सब लेखक हिंदी में ही लिख रहे हों। इस बात की जरूरत महसूस की जा रही है कि सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से भारत में हिंदी साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को विदेशों में रचे जा रहे हिंदी साहित्य से परिचित कराया जाए, उनका सर्वेक्षण कराया जाए और संकलन और मूल्यांकन की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं। यह भी सवाल उठाया जा रहा है कि भारत में विश्वविद्यालयों में हिंदी में पाठ्यक्रम में विदेशी साहित्य को शामिल किया जाए। इसका कारण यह बताया जाता है कि दरअसल हिंदी साहित्य उत्तर भारत की मध्यवर्गीय चेतना से ही जुड़ा हुआ है। उसमें वे सारी बातें शामिल नहीं होती हैं जो दुनिया भर के अनुभव और आदान प्रदान से सामने आती हैं। छात्रों को शोध के लिए विषय नहीं मिलते। प्रवासी साहित्य के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाने से हमें न केवल एक अपरिचित और नए समाज का बल्कि वहां के इतिहास और समाजशास्त्र की भी जानकारी मिलेगी। हम हर देश के समाज को उसके साहित्य के जरिए ही जान सकते हैं। अगर वह हमें हिंदी साहित्य के जरिए मिले तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है। प्रवासी साहित्य को शामिल करने छात्रों के अनुभव के दायरे बढ़ेंगे। हमें प्रवासी साहित्य पढकर ही हिंदी के बहुत बड़े कैनवास का परिचय मिलेगा, उनकी बहुरंगी छटा से हिंदी साहित्य का नया आकाश और मिलेगा। यह भी कहा जाता है कि कथा साहित्य में परिवेश का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रवासी साहित्य विदेशी जमीन एक नया नजरिया और एक नया माहौल लेकर आएगा।

इस बात में कोई दो राय नहीं कि प्रवासी साहित्यकारों की समस्याएं एकदम अलग हैं, उनके साहित्य की मनोभूमि अलग है और जो हम यहां से देख रहे हैं, लिख रहे हैं, जी रहे हैं, उससे उनका जीवन बिलकुल अलग है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर कथाकार, आलोचक, समीक्षक डॉक्टर विजय शर्मा ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक- सात समंदर पार से... तैयार की है और इस क्षेत्र में बहुत अरसे से महसूस की जा रही सहायक सामग्री और संदर्भ साहित्य की कमी को दूर किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने अपनी बात को दो खंडों में शामिल करते हुए 36 लेखों के जरिए सामने रखने की कोशिश की है। पहले खंड में ब्रिटेन में हिंदी कथा साहित्यः एक परिदृश्य, प्रवासी साहित्य का अंतर्लोक, डॉक्टर अचला शर्मा का कथा संसार, तेजेंद्र शर्मा की कहानी में किशोरावस्था, प्रवासी महिला रचनाकारों के पुरुष पात्र, प्रवासी हिंदी कहानियों में वृद्धावस्था, कुछ प्रवासी कहानियों से जूझते हुए, प्रवासी हिंदी कहानियों में संवेदना की भाषा, प्रवासी हिंदी कहानी में गैर कानूनी प्रवास, प्रवासी हिंदी कहानी में विदेशी जीवन और प्रवासी साहित्य की अवधारणा आदि आलेख शामिल किए गए हैं और खंड 2 में विदेशी प्रवासी साहित्यकारों की अलग-अलग कहानियों को लेकर विषय, संदर्भ, पात्र, चरित्र, मनोभाव आदि के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है और वे उन कहानियों में आए जीवन को हमारे सामने रखने की कोशिश करती हैं।

विदेशों में जो कहानियां लिखी जा रही हैं उन्हें रचते समय

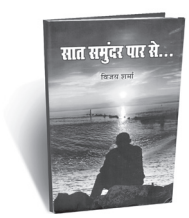

पुस्तकः
सात समुंदर पार से...
लेखिकाः
विजय शर्मा
प्रकाशकः
यश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठः 334
मूल्यः ₹ 895

लेखक के सामने किस तरह की समस्याएं आती हैं और उनसे पार के तरीके कौन से हैं, इस मुद्दों पर वे विस्तार से बात करती हैं।

जब हम विदेशों में बसे साहित्यकारों की बात करते हैं तो हमारे सामने प्रवासियों के अमूमन 3 वर्ग आते हैं। पहले वर्ग में वे भारतीय आते हैं जो मजदूरों के रूप में, कामकाज के सिलसिले में भारत से ले जाए गए थे और दो-तीन पीढ़ियों से वहां रह रहे हैं। उनकी वर्तमान पीढ़ी में कुछ लोग लेखन से जुड़े हुए हैं। दूसरे वर्ग में वे लेखक आते हैं जो भारत में रहते हुए भी लिख रहे थे और भारत से बेहतर नौकरी की तलाश में, काम के सिलसिले में विदेश गए और वहां पर भी लिखना जारी रखा। तीसरे वर्ग में वे लेखक आते हैं जिनका जन्म ही विदेशी धरती पर हुआ और वे लेखन की तरफ मुड़े।

अपने शोध ग्रंथ में विजयजी ने उन प्रवासी रचनाकारों को नहीं लिया है जो मजदूरों आदि के रूप में ले जाए गए थे और जिनकी वर्तमान पीढ़ी लेखन में जुड़ी हुई है। विजयजी ने इस पुस्तक में गल्फ, अमेरिका, इंग्लैंड, डेनमार्क और दूसरे देशों में बसे हुए सिर्फ कहानीकारों का जिक्र किया है। इनमें से इंग्लैंड में बसे तेजेंद्र शर्मा, उषा राजे सक्सेना, गौतम सचदेव, दिव्या माथुर, अशोक शर्मा, शैल अग्रवाल, उषा वर्मा, नीनापाल (दिवंगत) और जकिया जुबैरी के नाम हैं। डेनमार्क में रहने वाली अर्चना पैन्यूली और गल्फ में रहने वाले कृष्ण बिहारी और पूर्णिमा बर्मन उल्लेखनीय हैं। अमेरिका में उषा प्रियंवदा, सुषम बेदी, सोमावीरा, सुभद्रा कुमारी चौहान के पुत्र विजय चौहान का जिक्र है, अमेरिका में ही विशाखा ठाकुर, इंदिरा मित्तल, उमेश अग्निहोत्री (वे अब भारत लौट आए हैं), सुरेंद्र तिवारी, पूर्णिमा गुप्ता, इला प्रसाद, रेणु राजवंशी गुप्ता, पंखुरी सिन्हा (अब भारत में) आदि रचनाकारों की कहानियों को लिया गया है।

विजयजी ने इस पुस्तक में जिन प्रवासी कहानीकारों की उल्लेखनीय कहानियों के सारांश दिए हैं और उनमें आई अलग-अलग तरह की समस्याओं का विषद अध्ययन किया है, हम भारत में रहते हुए उन समस्याओं और स्थितियों की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह किताब हमें प्रवासी कहानियों के ऐसे अंधेरे कोनों से रू-ब-रू कराती है कि हम हैरान रह जाते हैं। सिर्फ आर्थिक मोर्चे और तथाकथित संपन्न जीवन को छोड़ दें तो कमोबेश इन सभी पात्रों के जीवन की घटनाएं न सिर्फ भयावह हैं बल्कि कई बार कल्पना से परे हैं। तेजेंद्र शर्मा की कहानी देह की कीमत तो अवैध तरीकों से विदेश गए भारतीय पात्रों के आर्थिक पक्ष की भी पोल खोल देती हैं। हम जानते हैं कि विदेशों में एक पीढ़ी, दो पीढ़ी और कई बार तीन चार पीढ़ी वाले भारतीय परिवार रह रहे हैं। अमूमन प्रवासी लेखकों ने इन्हीं भारतीयों के जीवन के विभिन्न आयामों को अपनी कहानियों का आधार बनाया है। पिछली पीढ़ी अगर भारतीय मूल्यों और संस्कृति की हिमायती है तो बाद वाली पीढ़ी को इसकी कत्तई परवाह नहीं। वह बीच में पिसती नजर आती है। एक तरफ घर के भीतर के दबाव हैं तो घर से बाहर कदम रखते ही एक दूसरी ही दुनिया के नकारे न जा सकने वाले प्रभाव हैं। लगभग सभी देशों से ली गई कहानियों में ये बात अनिवार्य तत्व की तरह मौजूद है। विजयजी की पारखी नजर से ऐसी कोई भी कहानी या समस्या ओझल नहीं हुई है। कहीं दो संस्कृतियों का टकराव मुखर हो कर आता है तो कहीं अपनी संस्कृति से, अपने घर से, अपने वतन से बेघर होने की टीस से उपजी कहानियां हैं। दो पीढ़ियों की टकराव तो अमूमन हर तीसरी कहानी में है। वरिष्ठ कहानीकारों की कहानियों में ये दर्द ज्यादा उभर कर आता है। वह चाहे अनचाहे, जाने अनजाने नोस्टालजिक कहानियां लिखते रहे हैं। जिन युवा लेखकों ने प्रवास के दौरान ही कहानियां लिखना शुरू किया है उनके यहां स्थानीय पात्र भी ज्यादा हैं और भारतीयता और स्थानिकता की मुठभेड़ें भी ज्यादा हैं। हम हिंदी प्रवासी साहित्य में घर से अलग होने, जड़ों से कटने, अजनबीपन की पीड़ा को बार-बार देखते हैं। यह मामला लगभग सभी कहानीकारों की कहानी में आता है। विजयजी ने इन सभी कहानीकारों की अलग-अलग प्रमुख कहानियों को पढकर यह जानने की कोशिश की है कि आखिर ऐसा क्यों होता है कि साहित्यकार प्रवासी देश में जा बसता है, अपने वतन से दूर और वहां के समाज से जुड़ने की कोशिश करता है, वहां के सुख-दुख, संघर्ष अंतर्द्वंद, सांस्कृतिक मूल्यों की टकराहट आदि को शिद्दत से महसूस करता है, वहां के भौगोलिक, पर्यावरण संबंधी बातें, सामाजिक संरचना, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों, धार्मिक बारीकियों को समझने और महसूस करने की कोशिश करता है लेकिन वह इसमें पूरा जीवन खपा देने के बाद भी अपने आपको उस समाज के अनुरूप ढाल नहीं पाता। तमाशबीन बन कर रह जाता है। स्वीकार के बजाय नकार की भावना हावी हो जाती है। उसके बावजूद स्थानीय तौर पर पहचान पाने का संकट अपनी जगह पर मौजूद रहता है। यह बात किसी भी समाज पर और वहां रह रहे लेखकों पर भी लागू होती है।

आइए, हम देखते हैं कि इस पुस्तक में विजयजी ने विदेश में लिखी जा रही जिन कहानियों को शामिल किया है उनमें प्रवास की कौन-कौन सी समस्याएं और प्रवृतियां आदि नजर आती हैं। कई वर्षों से डेनमार्क में रह रही अर्चना पैन्यूली हिंदी पाठकों को अपनी रचनाओं से डेनमार्क की प्राकृतिक सुंदरता, रहन-सहन, रीति-रिवाज, मूल्य, विचार, भाषा बोली से अवगत कराती रही हैं। इनकी कहानियों में भारतीय प्रवासियों की पहली पीढ़ी और बाद की पीढ़ियां का वैचारिक संघर्ष, मूल्यों की टकराहट सामने आती है। पिछले पीढ़ियों के लोग पुराने उसूलों से जुड़े रहना चाहते हैं तो वहां पैदा हुई पीढ़ी को इन सारी बातों से कोई मतलब नहीं है। विदेशों में पैदा हुई पीढ़ी अपने आपको कोई भी निर्णय लेने में समर्थ पाती है। इला प्रसाद की कहानी सेल में एक भारतीय प्रवासी स्त्री के अमेरिका में रहते हुए मानसिक उहापोह को सामने रखा गया है। वह स्त्री अमेरिकी रंग में डूबी नहीं है उसे भारतीय मूल्य संचालित करते हैं, तत्कालीन स्थानीय समाज के दबाव भी हैं। वह अपने मूल्यों और समाज को शिद्दत से महसूस करती है। उषा प्रियंवदा की कहानियां प्रवासी मन की उदासी को सामने रखती हैं। वे संस्कृति का टकराव, उनसे उत्पन्न मानसिक संघर्ष को चित्रित करती हैं! उनकी स्त्रियां परंपरा और वर्तमान में फंसी रहती हैं। उषा प्रियंवदा का कहना है कि मैं वही लिखती हूं जिससे मैं परिचित हूं। एक तरफ मैं भारतीय समाज से परिचित हूं तो दूसरी तरफ विदेश का परिवेश में मेरे सामने खुलता है। उनकी कहानी पुनरावृत्ति इस समस्या को सामने रखती है। शून्य आधार, शहर प्रसंग उनकी अन्य कहानियां हैं। उषा राजे सक्सेना की कहानियां पीढ़ियों के संघर्ष को सामने रखती हैं यह द्वंद्व पिछली पीढ़ियों और इंग्लैंड में जन्मी पीढ़ी के बीच में है, भारतीय मूल्यों और स्थानीय मूल्यों के बीच में है और टकराहट में हमेशा युवा पात्र ही पिसते नजर आते हैं। अबूधाबी में रह रहे कृष्ण बिहारी ने स्थानीय पात्रों को लेकर बहुत अच्छी कहानियां लिखी हैं। वहां वहीं से अपनी कहानी की भाषा, संस्कृति, मूल्य, रीति-रिवाज उठाते हैं और उनकी कहानियां तुलनात्मक तरीके से भारतीयता और स्थानिकता के टकराव को ही सामने रखती हैं। अपनी कहानियों में वे किसी के पक्ष की बात नहीं करते बल्कि यथार्थ को सामने रखते हैं जो उनका देखा हुआ है और जिसे वे बाहर का होने के कारण बार-बार महसूस करते हैं। कृष्ण बिहारी ने अबूधाबी के जीवन जगत व्यापार का गहराई से अध्ययन किया है और वही बार-बार उनकी कहानियों में सामने आता है। इन कहानियों में अबूधाबी का सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, धार्मिक परिवेश धड़कता नजर आता है और साथ ही वे अपने मूल भारतीय सोच-विचार मूल्य और संस्कृति से उनके टकराव को भी सामने रखते हैं। तेजेंद्र शर्मा की कहानी देह की कीमत जापान में गैरकानूनी तरीके से जाकर बसने और बेहतर जीवन का सपना देखने वाले प्रवासी भारतीयों की कहानी है। इस कहानी के जरिए उन्होंने इस पूरी यात्रा की पड़ताल की है कि किस तरह से भौतिक सुविधाओं के लालच में हमारे युवक विदेशों में जाकर बसना चाहते हैं और अंजाम क्या होता है। इस कहानी में गैरकानूनी तरीके से विदेश में बसने के पीछे पीछे छूट गए रिश्ते किस तरह से तहस-नहस हो जाते हैं इसकी भी बड़ी बारीकी से पड़ताल की गई है। दिव्या माथुर की कहानी पंगा एक बेहतरीन कहानी है जो स्त्री को बहुत बिंदास, निडर, मस्त मौला दिखाती है लेकिन साथ में यह भी दिखाती है कि उसका तन्हाई, उसका डर, उसका अपराधबोध, उसका अकेलापन इन सारी खूबियों पर कितना हावी है कि वह चाह कर भी अपनी कमजोरियों को अपनी ताकत नहीं बना पाती।

जैसा कि मैंने पहले कहा प्रवासी कहानियों में और खासकर पिछली पीढ़ी की कहानियों में आप जड़ों से उखड़ने की पीड़ा को बार-बार देखते हैं। आर्थिक और भौतिक संपदा की तलाश में हमारे लोग विदेश जाते हैं लेकिन उसके बदले में जो कुछ

प्रवासी लेखन की इस सीमाओं के बावजूद विजय शर्मा का यह अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

खोना पड़ता है यह हमें प्रमाणिक रूप से देखना हो तो पूर्णिमा वर्मन की कहानियों में कई बार देखते हैं। सुदर्शन प्रियदर्शिनी सुनेजा की कहानी अखबार वाला बड़ी खामोशी से जीवन मृत्यु को लेकर भारतीय समाज की मान्यताओं और उसके वर्तमान देश की मान्यताओं को परखने की कोशिश करती है। उसका मन बार-बार अपने मूल्यों, अपनी स्थापनाओं और अपने रीति रिवाजों की तरफ लौटता है और फिर वह देखती है कि यह जहां रह रही है वहां पर उनका कोई मूल्य नहीं है।

कोई भारतीय परिवार जब अमेरिका में रहता है तो भारत की सामान्य सामाजिकता के अभाव में उसका मन कितनी भयंकर कशिश से गुजरता है उसे कितनी तकलीफ होती है, इसे वहां या भारत में रहने वाले लोग नहीं समझ सकते। हम कहते हैं कि वहां से लौटकर क्यों नहीं आते लेकिन क्या यह लौटना इतना आसान होता है। रंगभेद मनुष्य के नाम पर एक बड़ा घिनौना और अक्षम्य अपराध है। अमेरिका जैसे उन्नत देश में बसे हमारे हिंदी कहानीकारों में इस समस्या को भी महसूस किया और अपनी कहानियोंमें उतारा है।

एक बात और भी है कि अलग-अलग देशों में रह रहे भारतीय लेखक अलग-अलग समाजों में जी रहे हैं और उनकी स्थानीय समस्याओं से रू-ब-रू हो रहे हैं। कुछ लेखक ऐसे भी हैं कि जिन्होंने वहां की नागरिकता स्वीकार कर ली है। एक और बात है जो प्रवासी कहानियों को भारत में लिखी जा रही कहानियों से अलग करती हैं। यह तुलनात्मक नजर। प्रवासी लेखक के सामने हर चीज की तुलना के आधार हैं। सूची लंबी है। ओपन सेक्स से लेकर रिश्तों में पसर चुके ठंडेपन तक। प्रवासी लेखक अपने देश का रह नहीं पाता और जिस देश में रह कर लिख रहा है, उसका हो नहीं पाता। वह जिस दुनिया में रहता है उसकी असलियत को जानता समझता है, रोज उससे दो चार होता है और यही सबकुछ उसकी कहानी में विस्तार पाता है और जो वह पीछे छोड़ आया है उसकी कितनी भयंकर कसक उसे कचोटती है, उसकी छटपटाहट कितनी बुरी तरह से उसे आहत करती है यह जानना इतना आसान नहीं होता। प्रवासी कहानीकार के सामने यही सबसे बड़ी चुनौती है कि वह विदेशों में दोहरा जीवन जी रहे पात्रों के साथ कैसे न्याय करे। किसे सही और किसे गलत ठहराये।

विजयजी ने जिन कहानियों को इस पुस्तक में शामिल किया है उनमें से लगभग अस्सी प्रतिशत कहानियों के पात्र भारतीय हैं। स्थानीय पात्र केवल वहां पर हैं जहां टकराव है। ये टकराव किसी भी तरह का हो सकता है और कोई भी पक्ष सही या गलत हो सकता है।

आज इस किताब की समीक्षा करते हुए मैं अपनी कुछ चिंताएं भी सामने रखना चाहता हूं। अगर आंकड़ों की बात मानें और इसी किताब में शामिल किए गए कहानीकारों को भी एक आधार मानें तो पूरी दुनिया में फैले लगभग दो करोड़ भारतीयों में से गिनती के 20 या 25 हिंदी लेखक ही हैं जो स्तरीय लेखन कर रहे हैं और भारत में लिखे जा रहे लेखन से टक्कर ले सकते हैं। यह भी बात ध्यान देने की है कि ये सभी लेखक या तो कहानियां लिख रहे हैं या उपन्यास लिख रहे हैं। कुछेक रचनाकारों के कविता संकलन भी आए हैं लेकिन साहित्य की अन्य विधाओं मसलन निबंध, नाटक, आलोचना, संस्मरण, आत्मकथा, अनुवाद और समीक्षा आदि के बारे में वे पूरी तरह से मौन हैं।

चिंता की दूसरी बात यह भी है कि इस किताब में या हमारी जानकारी में जितने भी प्रवासी लेखक हैं वे सब लगभग साठ बरस के आसपास या साठ से ऊपर के हैं। आपको ढूंढ़ने से भी कोई लेखक इससे कम उम्र का नहीं मिलेगा। तीसरा संकट यह है कि हिंदी समाज की जो पीढ़ी विदेशों में ही पैदा हुई है और वहीं पढ़ लिख कर लेखन में आती भी है तो इस बात की बहुत कम संभावना है कि वे हिंदी में लेखन करेंगे क्योंकि वे देवनागरी लिपि भी ढंग से नहीं जानती। रचना लिखना तो बहुत दूर की बात है। तो इसका मतलब यह है कि इस पीढ़ी के बाद हिंदी लेखकों कोई और पीढ़ी ऐसी नहीं बची है जो प्रवासी साहित्य की निरंतरता को बरकरार रख सके।

इतिहास और साहित्य में शून्यकाल नहीं होता। साहित्य और इतिहास दोनों निरंतरता मांगते हैं और उसी से उसके मूल्यांकन की, उसके तुलनात्मक अध्ययन की, उसके विकास की और उसके बदलाव की स्थितियों को देखा परखा और समझा जा सकता है। यहां यह सवाल बेमानी हो जाता है कि भारत के विश्वविद्यालयों में हिंदी में एमए. में प्रवासी साहित्य को वैकल्पिक प्रश्न पत्र के रूप में पढ़ाया जाए, उस पर अध्ययन किया जाए, शोध किए जाएं। एक ही पीढ़ी के दस बीस लेखकों के आधार पर प्रवासी साहित्य का मूल्यांकन किस प्रकार करेंगे यह विचारणीय मुद्दा हो सकता है। मैं यह नहीं कहता कि इन लेखकों में दम नहीं है लेकिन निरंतरता के अभाव में कोई भी अध्ययन, कोई भी शोध, कोई भी दीर्घकालिक निर्णय घातक हो सकता है। हमें यह भी देखना होगा कि प्रवासी लेखन की परंपरा जारी रहे और दमदार लेखन सामने आए, उस पर निगाह रखी जाए और उनके लिखे को सामने लाया जाए ताकि साहित्य के इस महत्वपूर्ण घटक का अध्ययन किया जा सके। प्रवासी साहित्य एक ही पीढ़ी तक सिमट कर न रह जाए।

प्रवासी लेखन की इस सीमाओं के बावजूद विजयजी का यह अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

उपन्यास

पागलखानाः बाजारवाद पर एक आधुनिक क्लासिक

प्रभु जोशी

कथाकार, चित्रकार

संपर्क :
303, गुलमोहर-निकेतन
वसंत-विहार, इंदौर-452010
(म.प्र.)

ज्ञान चतुर्वेदी, भारतीय उपन्यास का कदाचित ऐसा अन्यतम हस्ताक्षर हैं, जिसने विगत चार दशकों में, अपने रचनात्मक-पुरुषार्थ से अपनी भाषा और अभिव्यक्ति की भंगिमा में, अपनी अग्रज पीढ़ी द्वारा निर्मित तमाम, पड़ावों, सोपानों और प्रभावों से निकल कर, अब स्वयं की एक विशिष्ट सृजनात्मक पहचान बना ली है। बहरहाल, 'राजकमल प्रकाशन गृह' से आई यह सद्य प्रकाशित कृति, 'पागलखाना', उसका पांचवां उपन्यास है। कहना न होगा कि भूमंडलीकरण के साथ ही आए, 'बाजारवाद' की सांस्कृतिक-आर्थिक और सामाजिक चपेट में आ चुके, हमारे मौजूदा भारतीय समाज की, यह उपन्यास एक ऐसी दारुण-कथा कहता है कि जिसमें 'समकाल के यथार्थ' की अभिव्यक्ति को और अधिक अमोघ बनाने के लिए, उसने इस कृति को इरादतन, फैंटेसी के शिल्प में प्रस्तुत किया है।

ज्ञान चतुर्वेदी, भारतीय उपन्यास का कदाचित् ऐसा अन्यतम हस्ताक्षर हैं, जिसने विगत चार दशकों में, अपने रचनात्मक-पुरुषार्थ से अपनी भाषा और अभिव्यक्ति की भंगिमा में, अपनी अग्रज पीढ़ी द्वारा निर्मित तमाम, पड़ावों, सोपानों और प्रभावों से निकल कर, अब स्वयं की एक विशिष्ट सृजनात्मक पहचान बना ली है। बहरहाल, 'राजकमल प्रकाशन गृह' से आई यह सद्य प्रकाशित कृति, 'पागलखाना', उसका पांचवां उपन्यास है। कहना न होगा कि भूमंडलीकरण के साथ ही आए, 'बाजारवाद' की सांस्कृतिक-आर्थिक और सामाजिक चपेट में आ चुके, हमारे मौजूदा भारतीय समाज की, यह उपन्यास एक ऐसी दारुण-कथा कहता है कि जिसमें 'समकाल के यथार्थ' की अभिव्यक्ति को और अधिक अमोघ बनाने के लिए, उसने इस कृति को इरादतन, फैंटेसी के शिल्प में प्रस्तुत किया है।

मुझे याद है, जब ज्ञान चतुर्वेदी, इस भूमंडलीकृत बाजार के बढ़ते वर्चस्व को केंद्र बनाकर उपन्यास लिखने की रचनात्मक-मनोभूमि में था, तो उसने एक दिलचस्प बात कही थी- 'प्रभु, हमारे चिकित्सा-विज्ञान की पुस्तकों में, मधुमेह और मधुमेह के रोगियों के बारे में एक दिलचस्प टिप्पणी है- 'नेम द आर्गन, देअर विल बी द डायबिटीज।' अर्थात् जब व्यक्ति को मधुमेह हो जाए तो आप उसके किसी भी अंग का नाम लीजिए, वहां जो कुछ भी 'क्षरण' अथवा 'नई-रुग्णता' प्रकट हो रही है, वस्तुतः मधुमेह के ही हस्तक्षेप की वजह से है। और उस 'क्षरण' और 'रुग्णता' को, जब तक आप पहचानेंगे, तब तक देर हो चुकी होगी, क्योंकि, डायबिटीज इज अ साइलेंट किलर...।'

प्रसंगवश, यहां यह याद दिलाना चाहूंगा, कि उत्तर-आधुनिक दार्शनिक फ्रेडेरिक जेमिसन ने ठीक यही बात भूमंडलीकरण के संदर्भ कही है कि 'जब तक आप समझेंगे कि भूमंडलीकरण वास्तव में क्या है, तब तक वह अपना काम पूरी तरह से निबटा चुकेगा, क्योंकि वह तब तक सर्वस्व को अपने वर्चस्व में अधिग्रहित कर लेगा।'

ज्ञान का कहना है कि 'इस सदी में अब हमें, यदि हमें किसी भी 'राष्ट्र-राज्य' में किसी भी तरह की राजनीतिक या सांस्कृतिक-रुग्णता के लक्षण प्रकट होते दिखने लगे तो यह तय मान लीजिए कि वह 'भूमंडलीकृत बाजार' का ही किया-धरा है, क्योंकि जिस तरह मधुमेह मीठे-मीठे ढंग से नष्ट करता है, भूमंडलीकरण की हिदायत है कि 'टु बी किल्ड विथ काइंडनेस।' क्योंकि अगर यह एहतियात नहीं रखा गया तो समाज में उस परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध पनप सकता है। कहना न होगा कि इसलिए ही, भूमंडलीकरण के 'इंफो-वारियर्स' कहने लगे- 'तुम्हारे जीवन में अब एक नई सभ्यता और संस्कृति का उदय हो रहा है, अन्धत्व के शिकार लोग, इसके आगमन के विरुद्ध हाय-तौबा मचा रहे हैं। यह परिवर्तन जो तेजी से आ रहा है, वह जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है।' वे 'स्मृति' के विरुद्ध 'विस्मृति' को रेखांकित करने लगे। कहना चाहता हूं कि ज्ञान चतुर्वेदी की, 'बाजारवाद' के साथ ही अचानक आ जाने वाले इस अप्रत्याशित परिवर्तन के पूरे कालखंड पर, एक सजग नजर थी और वह अपने चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकों और पत्रिकाओं के साथ ही साथ, वह भूमंडलीकरण द्वारा किए जा रहे उथलधड़े को, एक बहुत गहन संवेदनशील लेखक की तरह लगातार देखता चला आ रहा था। वह 'भूमंडलीकरण' से संबंधित, किताबें पढ़ रहा था, ताकि वह उसे ठीक से समझ सके, क्योंकि पूरे भारतीय राष्ट्र और समाज के बीच कोई भी ऐसा क्षेत्र और अनुशासन अछूता नहीं बचा रह सका था, जिसमें पश्चिम-केंद्रित बाजार अपने ढंग से अराजक उलटफेर नहीं कर रहा था। भूमंडलीकरण के आगमन के साथ ही, यह एक दिलचस्प अंतर्विरोध प्रकट

पुस्तकः
पागलखाना
लेखकः
ज्ञान चतुर्वेदी
प्रकाशकः
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठः 271
मूल्यः ₹ 595

होने लगा कि आर्थिक स्तर पर, हम जहां एक ओर 'वैश्विक' हो रहे थे, वहीं चेतना के स्तर पर अधिक 'क्षेत्रीय'। जबकि, ऐसा होना, पूरे समाज को, एक तीखे अंतर्संघर्ष से भर रहा था। क्योंकि एक तरफ जिस जुबान से 'नेशन इज एन इमेजिंड कम्युनिटी' की बात कही जा रही थी, वहीं यह भी हो रहा था कि हमें हमारा 'झारखंड' चाहिए, हमें हमारा 'बघेलखंड' या 'बुंदेलखंड' चाहिए। ज्ञान चतुर्वेदी तब तक इस पर, 'इंडिया टुडे' में एक फैंटसी लिख चुका था।

बहरहाल, मुक्त-व्यापार बनाम 'बाजारवाद' का चतुर्दिक, एक सार्वदेशीय भय व्यापने लगा था, गालिबन, जो कुछ उनका अपना है, वही उनसे छीन लिया जाने वाला है। जाल बिछ रहे थे, और सबसे बड़ा जाल था-अंतर्जाल। इंटरनेट। वह घरों के भीतर कमरों में फैलता जा रहा था- और छतों पर एक दूसरा जाल था, जिसमें सारी दुनिया की खबरें खौल रही थीं- कहा जा रहा था, एक 'सूचना संपन्न समाज' की रचना हो रही है। किसी को कोई संपट नहीं बैठ पा रही थी कि 'आखिर ये क्या हो रहा है...? एक ईमानदार-संदेह, सर्वस्व को 'संदिग्ध' बनाता हुआ, 'बाजारवाद' का ही एक विराट वलय रच रहा था। राजनीति में अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र में भूगोल, भूगोल में भाषा, भाषा में भूख, भूख में भगवान-और इस सभी में सर्वव्यापी की तरह घुस रहा था, 'चरम मुक्त-बाजार'। लगने लगा कि कोई महा-मिक्सर है, जिसने पूरे समाज और उसकी संरचना के घटकों को फेंट कर गड्ड-मड्ड कर दिया गया है। उत्तर-आधुनिक फ्रेंच दार्शनिक देरीदा ने इसी 'गड्ड-मड्ड समय' को 'टाइम फ्रेक्चर्ड- टाइम डिसजॉइंटेड' जैसी सामासिक-पदावली में परिभाषित करने की दार्शनिक कोशिश की।

लेकिन, ज्ञान चतुर्वेदी के लेखन के लिए सबसे बड़ी चुनौती इस 'बाजारवाद' बनाम 'भूमंडलीय-यथार्थ' के वैराट्य को अपनी रचना में, अधिकतम ढंग से अधिकतम स्तर पर समेटने की थी, क्योंकि वह इतना हाइपर, इतना विस्तृत और विराट था कि उसे एक कृति में समाहित करना, एक बड़ी लेखकीय द्विविधा का काम था। इसी दौर में उसके स्तंभों में भाषा और शिल्प का एक नितांत नया और आत्म-सजग मुहावरा प्रकट होने लगा था। उसे लगने लगा था कि उसके पास एक लंबे लेखकीय जीवन के अनुभव से अर्जित व्यंग्य के शिल्प में, इस विराट और बहुत जटिल छद्म को उद्घाटित करना आसान नहीं है। परिवर्तन की निर्ममता से उपजे अवसाद से निबटने के लिए, टेलीविजन चैनलों पर 'यथार्थ को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल करता हुआ, मसखरी का कारोबार', जन-सामान्य के जरूरी और जायज गुस्से को मनोरंजन से हत्या कर रहा था। अखबारों के लिए भी व्यंग्य के बजाय, हास्य-लेखन की उपभोक्ताई जरूरत हो गई थी। खबरों का भी 'मनोरंजनीकरण' होने लगा था। समय और समाज के सत्य को, 'कीलिंग विथ इंटरटेंमेण्ट', की धूर्त कूटनीति ने, सत्य को पहले से कहीं अधिक, संदिग्ध करते हुए, 'विचारहीनता के विचार' को फैलाना शुरू कर दिया था। तब एक जेनुइन लेखक की चिंता रचना में, 'फार्म' को लेकर ही उठती है। कहने की जरूरत नहीं कि किसी भी

ज्ञान का कहना है कि 'इस सदी में अब हमें, यदि हमें किसी भी 'राष्ट्र-राज्य' में किसी भी तरह की राजनीतिक या सांस्कृतिक-रुग्णता के लक्षण प्रकट होते दिखने लगे तो यह तय मान लीजिए कि वह 'भूमंडलीकृत बाजार' का ही किया-धरा है, क्योंकि जिस तरह मधुमेह मीठे-मीठे ढंग से नष्ट करता है, भूमंडलीकरण की हिदायत है कि 'टु बी किल्ड विथ काइंडनेस।' क्योंकि अगर यह एहतियात नहीं रखा गया तो समाज में उस परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध पनप सकता है।

सच्चे लेखक के लिए अभिव्यक्ति की भंगिमा के निर्धारित करने का यह एक किस्म का बहुत कठिन संकट होता है। यह संकट अब और गहरा गया था। क्योंकि लेखक, जिस यथार्थ को अपनी कृति में व्यक्त करने का दावा कर रहा था, उससे अधिक यथार्थ तो अब 'रियालिटी-टीवी' के फुटेज देने के लिए आगे आ गए। जबकि, बाजारवाद के खिलाफ, किस्सागोई और निरे बखान की, निरी इन्वेस्टिगेटिव-साहित्यिक पत्रकारिता छाप बहुतेरी कहानियां, अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में आ रहीं थीं।

कुल मिलाकर, ये सारे वे प्रश्न ही थे, जिन्होंने ज्ञान चतुर्वेदी को, कथा में घटनाओं और विवरणों, एक 'अकल्पनीय अविश्वसनीयता' के सीमांतों पर पहुंचकर, 'एक नई कलाजन्य विश्वसनीयता' की गढ़न्त' वाला, 'पागलखाना' जैसी अद्वितीय रचना लिखने के लिए बाध्य कर दिया। एक दिन उसने कहा-' प्रभु...! मैंने एक 'महा-खलनायक' की कल्पना की और उसे एक 'अमानवीय-सर्वसत्तावादी वर्चस्व' के केंद्रीभूत किरदार की तरह गढ़ने की योजना बनायी है, क्योंकि ये जो नया 'बाजारवाद' आया है, वह एक कोई सामान्य-सा परंपरागत बाजार नहीं हैं, बल्कि यह तो गहरी मेधा वाले व्यक्ति की कल्पना से कहीं अधिक विराट है। यह 'लार्जर देन लाइफ नहीं, लार्जर देन 'मन इमेजिनेशन' है। क्योंकि, ये अब 'ईश्वरावतार' जैसा हो चुका है। वह सर्वव्यापी है। ये 'रामदीन-श्यामदीन' के ठगे जाने के इकहरे किस्सों से एक्सपोज नहीं होगा।

यह बहुत दिलचस्प है कि ज्ञान चतुर्वेदी के इस उपन्यास में इसलिए मुख्यतः केवल सिर्फ दो पात्र ही हैं। एक है, 'बाजार' और दूसरा है, 'नागरिक', जो अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग संस्करण में दिखता है, लेकिन बुनियादी रूप से वह एक ही पात्र है, जो अलग-अलग प्रतिनिधि परिस्थितियों में त्रास और भय के प्रतिनिधि कुचक्र में फंसा लिया जा रहा है। कहीं पर उसके सपनों की चोरी हो गई है, तो कहीं पर उसकी स्मृति का अपहरण हो गया है, वह खुद को पहचानना भूल गया है। वह ताले की तलाश में है। बाजार उसकी तलाश में है। पागल बढ़ रहे हैं। वह पागल है। वह पागल कतई नहीं है। वह दुनिया और दुनियादारी से भाग रहा है। वह भाग रहा है, आकाश से ऊपर और धरती के नीचे। वह छिप रहा है। क्योंकि वह अपने उस 'स्वत्व, सत्य और सातत्य' को बचा लेने में लगा हुआ है, जो उसके पास

संचित था। 'बाजार' तो उपन्यास के हर अध्याय में हर जगह और हर पृष्ठ पर है, नागरिक को अपने लिए अनुकूलित करता हुआ। एक 'डिजाइंड' केंद्रीय-आशावाद के पीछे वह विभिन्नताओं को लीलना चाहता है। उपन्यास में आया, वह ऐसा बाजार है, जो 'फ्री-विल' को नष्ट करके 'स्वतंत्रता' की बात करता है, जबकि वह केवल 'चयन' की स्वतंत्रता देता है, जीवन जीने और उसके तरीके की नहीं।

सच बात तो यह है कि इस 'बाजारवाद' को, केवल, दुकानों, तरों, इमारतों और बहुमंजिला मॉल्स में ही नहीं देखा जा सकता है बल्कि इन दिनों उसकी नजर, मनुष्य के मस्तिष्क पर है। कहना चाहिए कि कण-कण में रहने वाले भगवान को अपदस्थ करके बाजार ने वहां अपना वास बना लिया है। शायद, ईश्वर नहीं, मैं कहना चाहूंगा, नीत्शे की शब्दावली उधार लेकर-एक करुणाहीन राक्षस, जो सर्वस्व को अपने अधीन करने के लिए न केवल संकल्पित है, बल्कि समर्थ भी है। प्रकारांतर से उपन्यास में, वह 'विराटावतार-बाजार', उपन्यास के हर अध्याय में एक धूर्त और दक्ष 'ऑर्गनाइजेशन मैन' है, जो सिर्फ संस्थागत रूप से सोचता है, व्यक्ति की संवेदना के सहारे नहीं। वह उपन्यास में हर जगह है, सबकुछ को, यहां तक कि विश्व के हर नागरिक को उपभोक्ता में बदलता हुआ। एक ही रूप में ही है, पृथ्वी का मनुष्य उस के लिए, मात्र उपभोक्ता। 'एकता' नहीं, एकरूपता उसके अभीष्ट की फेहरिस्त में प्राथमिक है। निस्संदेह, वह पश्चिम के सांस्कृतिक विस्तारवादी वर्चस्व का अपराजेय रूप है, जो अंततः पहली दुनिया की श्रेष्ठता और उसमें भी केवल अमरीकी श्रेष्ठता को ही शेष संसार के अनुकरण के लिए 'आईडियज-सांचे' का काम कर रहा है। यहां, बाजार के कारण आए केऑस को समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण बातें।

मसलन, बेल-आउट डील पर हस्ताक्षर करने के बाद, भारत-सरकार के वित्तमंत्री की सारी प्रतिबद्धताएं, अब भारतीय 'राष्ट्र-राज्य' के बजाय, 'अंतर-राष्ट्रीय मुद्रा कोष', 'विश्व बैंक' और 'विश्व-व्यापार संगठन' के तमाम कूटनीतिक कारिंदों की कृपा-साध्यता को पाने के प्रति हो गई थी। यह राष्ट्र की 'संप्रभुता' के धीरे-धीरे 'स्वाहा' करने का साबर-मंत्र था, जिसके पूर्व में 'भूमंडलीकरण' का 'सामगान' चलना था। इसका, कुल अभिप्राय यह था कि 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' को, 'अंतरराष्ट्रीय-अर्थव्यवस्था' के महामत्स्य से नाथना था ताकि पश्चिम-केंद्रित 'चरम मुक्त बाजार व्यवस्था' के हित में, आवारा पूंजी के प्रवाह का निर्विघ्न मार्ग खोला जा सके। अर्थात् अब 'शिक्षा','स्वास्थ्य','संचार', से लेकर तमाम वे दायित्व, जो 'राज्य' की प्रथम शर्त थी, उन्हें 'निजीकरण' की झोली में डाल कर, जन-प्रतिबद्धता से हाथ झाड़ कर, राज्य के पास अब केवल ढांचागत-समायोजन' के स्वागत में तालियां कूटने भर का काम रह गया था। यही 'मनमोहनामिक्स' कहा जा रहा था, जो कि असल में भारत का 'दोहनामिक्स' था।

यह निर्णय समझदार देशवासियों के लिए

यह बहुत दिलचस्प है कि ज्ञान चतुर्वेदी के इस उपन्यास में इसलिए मुख्यतः केवल सिर्फ दो पात्र ही हैं। एक है, 'बाजार' और दूसरा है, 'नागरिक', जो अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग संस्करण में दिखता है, लेकिन बुनियादी रूप से वह एक ही पात्र है, जो अलग-अलग प्रतिनिधि परिस्थितियों में त्रास और भय के प्रतिनिधि कुचक्र में फंसा लिया जा रहा है। कहीं पर उसके सपनों की चोरी हो गई है, तो कहीं पर उसकी स्मृति का अपहरण हो गया है, वह खुद को पहचानना भूल गया है।

बाजारवाद बनाम 'मनमोहनामिक्स' सचमुच ही हतप्रभ कर देने वाला था क्योंकि भारतीय जनतंत्र में, इतना बड़ा परिवर्तन आजादी के बाद अचानक लाद दिया गया था, जिसके लिए अभी भारतीय राष्ट्र-राज्य और समाज कतई तैयार नहीं था, क्योंकि आने वाला यह परिवर्तन, एक तरह से बड़ा अप्रत्याशित 'विनष्टीकरण' था, जिसे भारतीयों द्वारा, अपनी 'राजनीतिक रतौंध' में समझा ही नहीं जा रहा था। यह कैसा 'परिवर्तन' था? जिसमें हमारा अभी तक का सारा का सारा, संचित ही भीतर से जगह-जगह से टूट रहा था।

मार्क्स ने एक जगह लिखा था, जब किसी परंपरागत गढ़ंत वाले समाज में, भीतर से परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही, यदि उस पर बाहर से 'बलात् परिवर्तन' लाद दिया जाए तो वह पूरा का पूरा समाज, एक गहरे सामाजिक और सांस्कृतिक-अवसाद में जीने को अभिशप्त हो जाता है। स्पष्टतः भारत में 'भूमंडलीकरण' के शुरू होते ही, ठीक यही होने लगा, क्योंकि परिवर्तन त्वरित और उसका आघात इतना निष्करुण था कि वह परंपरागत का, चुन-चुन कर ध्वंस करता चला जा रहा था।

यहां यह प्रासंगिक है कि क्योंकि सबसे पहले हमारे यहां 'बाजारवाद' मीडिया की पीठ पर सवार होकर आया और मीडिया का ही 'भूमंडलीकरण' हुआ और पश्चिम की 'कल्चर इंडस्ट्री' के उत्पाद या कहें कि 'उनके' माल के लिए उसने हवाई हमले कर-कर के, सारे 'परंपरागत' और उससे जुड़ी आसक्ति को भी नष्ट करना शुरू कर दिया, ताकि उस माल के क्रय और उपभोग की आदतों के जरिए, यथेष्ट जगह बनाई जा सके। परिणामस्वरूप, उस चक्रव्यूह ने ऐसी संरचना बनाई कि जीवन-शैली का उलटफेर करने में, उसने बहुत कम समय लिया- इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने विज्ञापन के जरिए 'कामना के अर्थशास्त्र' के भीतर, अल्प-उपभोगवादी भारतीय समाज को उलटकर ध्वस्त कर दिया। 'विचार' की जगह 'वस्तु' ने ले ली और यही वह सबसे कागर-सा, अचूक ब्रह्मास्त्र ही था, जिसने मिल्टन फ्रीडमैन के, उस 'मुक्त-बाजार' को जल्द ही विकराल बना डाला। उसने गांव के विरुद्ध 'शहर' और नागरिक के विरुद्ध 'उपभोक्ता' को बनाया और पश्चिम के महानगरीय-अभिजन की जीवन-शैली के अनुकरण को ही समूची मानव-सभ्यता का आखिरी अभीष्ट बना डाला है।

बुनियादी रूप से 'बाजारवाद', उपन्यास में नागरिक के विवेक को उखाड़ कर फेंकने के लिए राजी करता नजर आता है। वह स्वतंत्र सोच को 'कॉमनसेंस' से बाहर बताकर, उस सोच को ही 'पागलपन' सिद्ध कर कर डालता है। अर्थात्, जो असहमत है, वह निर्विवाद रूप से 'प्रमाणित-पागल' है। उसे एक किस्म का 'डि-नेचर्ड 'मन बीइंग' चाहिए, जो अपनी मानवीय नैसर्गिकता को छोड़ कर केवल उसके 'उत्पादों' का भोक्ता भर हो। एक निरा 'कल्चरल-कंज्यूमर' यह पहली दुनिया की मेटा-थियरी है, जो दूसरे देशों के सामाजिक-सांस्कृतिक विवेक का अपहरण बाजार के हाथों करने लगी थी।

मैं, ज्ञान चतुर्वेदी के घर में, उसकी मां और छोटे भाइयों के साथ, कोई पौने दो साल रहा हूं, नतीजतन, उसे मित्र के साथ ही साथ एक रचनाकार की तरह भी जानने का कुछ-कुछ दावा कर सकता हूं। ज्ञान, जब इस विषय को उठा रहा था तो निश्चय ही विषय की अतिव्याप्ति को देख कर लिखते हुए वह शनैः शनैः इरादतन विषय का काफी कुछ खारिज भी करता चला आया होगा। पूछा जा सकता है कि जिसे वह निरस्त करता है, किसके आग्रह पर? बाहर के सच के आग्रह पर या भीतर के सर्जक की हिदायत के पालन में। मुझे कृति पढ़ते हुए लगा। उसने दोनों के आदेशों पर विचार करके अपने लेखक के नैसर्गिक रचना-विवेक से 'कुछ निरस्त' किया, 'कुछ चुना' होगा, क्योंकि 'रचना करना' और 'खारिज'' करना, उसका अवश्यंभावी अंग है। टु क्रिएट एंड टु रिजेक्ट। एक तरह से कहना चाहिए, ज्ञान के भीतर एक 'प्रति-

ज्ञान चतुर्वेदी अपने लेखन में 'प्रोलिफिक' भी हैं और सर्वोत्कृष्ट भी। एक ही लेखक में इन दो गुणों की युति सर्वथा अलभ्य है। उत्कृष्टता के जो गुण विश्व-स्तरीय साहित्य के लेखन में बरामद होते हैं, वे सभी गुण ज्ञान चतुर्वेदी के लेखन में हैं और वे विपुलता के साथ ही हैं।

रचनाकार' की उपस्थिति काफी मुखर है। उस 'प्रति-रचनाकार' को, हमें उसके अंतरंग में छुपे 'आलोचक' की तरह पहचाना जाना चाहिए। वह ठीक ही कहता है कि 'साहित्य के जरिए', इस भूमंडलीकृत समय के इस संपूर्ण यथार्थ और सत्य को एक कृति में खोज लेने का दावा, एक अतिकथन कहा जाएगा, लेकिन 'मानव-कल्पना' में अपूर्व क्षमता है। यह उपन्यास मेरे लिए, इस संभावना के दोहन का एक छोटा-सा, लेकिन सर्वथा ईमानदार लेखकीय यत्न है।'

मनुष्य के लिए कल्पना जीवेषणा है। पेरिस में, जो छात्र-आंदोलन हुआ था, जिसमें ज्यां पाल सार्त्र शामिल थे, उसमें युवाओं का नारा था-'कल्पना शक्ति है, कल्पना को अपार शक्ति मिले।' बहरहाल, ज्ञान चतुर्वेदी के पास निस्संदेह बहुत ही सशक्त कल्पना है। जब एक लेखक की रचनात्मक-कल्पना, प्रकट और गोचर यथार्थ का हाथ छोड़कर, एक उन्मुक्त अराजक कल्पना से भिड़ंत का निर्णय करती है, तो वह कथ्य को 'वामन और विराट' के द्वंद्व में खड़ा करते हुए, स्वयं को एक स्वैर-कल्पना के कायांतरण में पाती है। तब प्रत्यक्ष-यथार्थ से उसका संबंध सीधा-सरल न हो कर काफी जटिल हो उठता है। क्योंकि 'फार्म' के स्तर पर वह दुरूह हो जाता है। लेकिन जैसा कि हर्बर्ट मार्क्यूस ने कहा है- 'ओनली द फॉर्म एक्सप्लोड्स। दरअसल, यहीं से 'सामान्य-सत्य' का एक 'उत्कृष्टतम-विशेष', कृति में विशिष्टता के साथ व्यक्त होता है। यह बाजार-समय के यथार्थ की, एक संश्लिष्ट पुनर्रचना ही है, जिसने 'पागलखाना' के समूचे वातावरण को, एक 'सार्वदेशीय पैरानोइया' में शब्दायित किया गया है। हम जब, ज्ञान के लेखक की एक अपूर्व दक्षता को देखते हैं, तो लगता है कि यही वह उसकी विशेषता है, जो उसे सैम्युअल बैकेट के 'स्ट्रेंग्थ टू इंप्रोवाइज' के ही बहुत निकट ले जाकर खड़ा कर देती है। क्योंकि उसने उपन्यास के समूचे आभ्यंतर में एक 'कलैक्टिव' पैरानोइया' रचा है, जो उसके चिकित्सा-विज्ञान में होने से संवादों में इतना सहजता से प्रकट होता है कि वह अपने इंप्रोवाइजशन के कौशल से, 'यथार्थ से परे के यथार्थ' की विचक्षण' प्रतीति कराता है। उपन्यास का नागरिक पात्र, एक अनश्वर और अजर-अमर से भय में है। कभी वह भाषा के मुहावरे के सच को और सच के मुहावरे को एक दूसरे से भिड़ा देता है। वह बताता है कि डर सर्वाधिक विराट और शक्तिशाली है, वह किसी भी ताले से नहीं रुकता। वह एक ऐसे ताले की तलाश में है, जिसे 'सरकार' और 'बाजार' दोनों ही नहीं तोड़ सके। वह बेतरह घबराया हुआ है। उसे लगता है, बाजार इतना क्रूर है कि वह पैंट उतरवाकर उसकी जिप में ताला लगवा दे। ताले से बुलडोजर थोड़े ही रोके जा सकते हैं। 'समय' को ऐसे समय में यही पता नहीं चल पा रहा है कि असल में पागल कौन

सच बात तो यह है कि इस 'बाजारवाद' को, केवल, दुकानों, तरों, इमारतों और बहुमंजिला मॉल्स में ही नहीं देखा जा सकता है बल्कि इन दिनों उसकी नजर, मनुष्य के मस्तिष्क पर है। कहना चाहिए कि कण-कण में रहने वाले भगवान को अपदस्थ करके बाजार ने वहां अपना वास बना लिया है। शायद, ईश्वर नहीं, मैं कहना चाहूंगा, नीत्शे की शब्दावली उधार लेकर-एक करुणाहीन राक्षस, जो सर्वस्व को अपने अधीन करने के लिए न केवल संकल्पित है, बल्कि समर्थ भी है।

है...? और ये भी फैसला 'समय' ही करेगा, लेकिन एक 'समय' के बाद। जीनियस को पागल और पागल को जीनियस घोषित कर दिया जा सकता है। बाजार ने सपनों और सामान को ऐसा मिला दिया है कि अब वह सामान का ही सपना देखता है। सपनों के क्लोन बनाए जाने लगे हैं। हालांकि, घरों की दीवारें उनकी ही हैं, लेकिन कान बाजार के हैं। कानून, बस एक चुटकला हो गया है। बाजार हजारों-हजार आंखों और हाथों वाला है, वह उन पर निगाह रखता है, जो उनके 'पक्ष' में हैं और वह उन पर भी, जो उसके 'विरुद्ध' हैं। उपन्यास में वर्णित जीवन ऐसा होता जा रहा है कि जीवन को 'अपनी पराजय का पता' ही नहीं चल रहा। वह पराजय में ही अपनी जय देखता है।

उपन्यास के देशकाल के भीतर, पाठक को एक ऐसी दुनिया बन गई दिखती है, जहां सूरज चांद सितारे सब का बाजारीकरण हो गया है। कुछेक ने धूप का प्री-पेड कार्ड बनवा लिया है। मुस्कुराने वाला पागल हो चुका है या जो पागल है, वही निर्दोष और निर्विकार मुस्कान फेंक सकता है। घरों की हालत यह है कि घर में, घर के लिए जगह नहीं बच पाई है। बाजार अपने हित में सबसे पहले सरकार को बेदखल किए दे रहा है क्योंकि संसद के बारे में भ्रम है। और भ्रम डिस्काउंट पर मिलने लगा है, कोई भी उसे 'पोस्टपेड' और 'प्रीपेड' से ऑनलाइन खरीद बेच सकता है। बच्चे बेकार हो चुके 'मत-कमाऊ' माता-पिता को ऑनलाइन बेच सकने की हैसियत में हैं। उन्हें सोये-सोये बेचा जा सकता है। 'समय' केवल घड़ी के डायल में है, बाकी बाजार-समय है। धर्म की नई पैकेजिंग हो गई है। देवता डरे हुए हैं, बाजार से। उनका पूजा-पाठ उसी बाजार के हाथ में ही है। देवताओं ने अब बोलना स्थगित कर दिया है। बाजार, राजनीति से नियंत्रित नहीं है बल्कि राजनीति ही बाजार से नियंत्रित हो रही है। लोग हतप्रभ हैं कि उनकी हथेलियों से हस्तरेखाएं गायब होने लगी हैं। आदमी के कंधे से सिर हट जाने पर, चीजें आसान हो सकतीं हैं, ऐसा सोचा जा रहा है। विचारों की डेड-बाडी है। कोई पोस्ट-मार्टम नहीं, पोस्ट-माडर्न है। डॉक्टर की प्रोफेशल आवाज इतनी मीठी हो चुकी है कि कायनात की सारी चींटियां चैंक कर, सिर उठाकर उधर देखने लगीं हैं। बाजार अंधेरे के खिलाफ है और बिना बत्ती की मोमबत्ती जला कर अंधेरा भगा रहा है। सबसे खतरनाक बाजार के लिए यही है कि आदमी सोच सकता है। उसके पास दिमाग है। वह सोच कर भागता है। यानी कि वो दिशा जानता है। आदमी को देखकर बिजली के खंभे हंसते हैं। बाजार सपने देखने वालों को मारने की योजना लिए घूम रहा है। दिक्कत ये कि अपने जीवन की निजता को बचाने के लिए, जीवन को ही दांव पर लगाने की जोखिम से भरा हुआ है, वह नागरिक। इसलिए, बाजार उसे मैनेज, मैन्युपलेट और म्युटिलेट कर रहा है। ज्ञान ने बाजार को समूची पृथ्वी के सर्व सत्तावादी प्रबंधक के रूप मे ऐसा अपराजेय चित्रित किया है, जो भविष्य में ईश्वर को अपदस्थ कर देने वाला है।

याद कीजिए, पश्चिम में जो व्यक्ति बाजार की जकड़ से मुक्त होने में नाकामियाब रहा, वह धर्म में स्थानांतरित हो गया। उपन्यास में नागरिक का एक संस्करण ऐसा भी है, जो छुपकर सुरंग खोदकर भागता

हुआ, एक दिन एक दिन धर्म स्थल में प्रकट हो जाता है। वहां से वह 'अध्यात्म से मुक्त धर्म' और 'पावनता से मुक्त संस्कृति' का पूजनीय बन जाता है। ज्ञान पूरे उपन्यास में विस्मयों की एक नितांत अकल्पित दुनिया को बखूबी रचते हुए, केऑस का भयभीत कर देने वाला स्थापत्य खड़ा करता है। कुल मिला कर, रोनल्ड रैंग के शब्दों में कहा जाए तो 'बाजार पागलों की निर्मिति का मसीहा है।' कितनी विडंबना है कि 'मनोव्याधि' की शब्दावली में 'पैरानोइया' तो है, जिसके चलते व्यक्ति में यह भ्रम गहरे तक उसके रिफ्लैक्सेज में उतर जाता है, कि कोई उसका पीछा कर रहा है, कोई उसे फॉलो कर रहा है, जबकि बाजार जानता है कि पूरा संसार उसका अभीष्ट है और सब उसको फॉलो करें। लेकिन साइकिएट्री में उसके लिए कोई शब्द नहीं है कि कोई 'मनुष्य को संवेदनहीन और विवेकहीन बना रहा है'।

उपन्यास की समीक्षा के तौर-तरीके में अमूमन यह होता है कि उसमें उसके कथानक को बताया जाए लेकिन के ज्ञान के इस उपन्यास में खास तरीके से गढ़ा गया कोई मानीखेज-सा कथानक नहीं है। सिर्फ बाजारवाद के त्रासद केऑस का 'भाषा से भाषा में उत्कीर्ण' एक किस्म का 'हांटेड-आर्किटेक्चर' है, जिसका अद्भुत-इंटीरियर, कथा-कथन के जरिए अद्भुत कौशल से, ऐसी प्रवीणता के साथ किया है, जो हिंदी में ज्ञान के अलावा केवल ज्ञान से ही संभव हो सकता था। उसमें यह ऐसी दुर्लभ मेधा है, जो उसको निर्विवाद रूप से, विश्व-साहित्य के कुछ बड़े समकालीन लेखकों के समांतर खड़ा कर देती है।

प्रश्न यह उठता है कि उपन्यास में उत्कीर्ण, जो भयावह 'महात्रास' लेखक ने प्रस्तुत किया है, उसमें सारे जो 'इज्म' थे, वे 'वाज्म' में बदल गए हैं तथा सारे 'यूटोपिया', अब 'डिसटोपिया' में। 'धर्म' भी अपनी सनातन सुचिता हमेशा के लिए खो चुका है औरः अध्यात्म' अब शिविरों की शक्ल में दूकान में बदल गया है। दूसरी तरफ, विचारधारा की मृत देह को रखकर, चिंतक महाविलाप मे रुदन की समवेत प्रस्तुतियां दे रहे हैं। तब, क्या अभी भी कहीं कोई उम्मीद शेष है कि एक दिन कोई मसीहा आएगा या कोई दैवीय-अवतार प्रकट होगा और इस महात्रास से मुक्ति के द्वार को खोल देगा...?। या माना जाए कि फिर भी दुनिया के भीतर कोई ऐसी अमिट किस्म की आस्था जमी हुई है कि 'पावन युग' अर्थात् 'एक्वेरियन-एज' आएगी...? कहीं ऐसा तो नहीं कि सेम्युअल बैकेट के पात्र, 'गोदो' की शैली में, 'कल के विरुद्ध बिना किसी कल' के अंतहीन सी मिथ्या प्रतीक्षा की अंध-नियति में ही सारी मनुष्यता विसर्जित हो जाएगी...?

यहां यह याद करना जरूरी है कि बीसवीं सदी के चिंतकों का दावा था कि इक्कसवीं सदी में 'पूंजीवादी-सर्वसत्तावाद' और 'जनतंत्र' के मध्य निर्णायक संघर्ष होगा। लेकिन हुआ यह कि जनतंत्र तो चुपचाप, 'उदारवाद' का मुखौटा पहने, बाजारवादी-व्यवस्था का अंगरक्षक नियुक्त हो गया। उसने 'पूवार्धुनिकता' और 'उत्तराधुनिकता' के तत्वों के मिश्रण से ढाल बना ली। तब सोचिए कि कहीं से भी किसी तरह

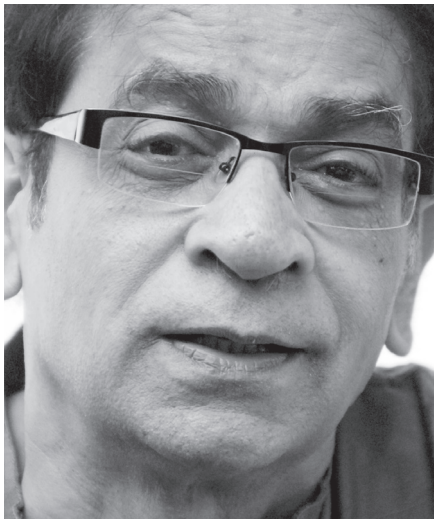

है। मसलन आर्वेल, जोसेफ हेलर या अल्डुअस हक्सले की फैंटेसियों के बराबर। लेकिन हिंदी में अपने संकीर्ण अहम् से सुलगते वृद्ध-समीक्षकों के लिए यह थोड़ा मुश्किल हा जाएगा कि वे इस कृति को अपने विगलित दुराग्रहों से बाहर आकर साहस के साथ सराह सकें। क्योंकि, उन समीक्षकों के घरों की घड़ियां बंद पड़ी हैं और चल भी रहीं हैं, तो उसमें एक ही समय टिक-टिक कर रहा है, वह समय, जब उसमें उनके किसी प्रीति-भाजन की कोई कृति छपकर आई थी।

बहरहाल, ज्ञान चतुर्वेदी ने इस कृति के जरिए अपनी मेधा से प्रमाणित कर दिखाया है कि भारतीय भाषा में भी विश्व-भाषा स्तरीय 'आधुनिक क्लासिक्स' लिखे जा सकते हैं।

अंत में, कहना चाहूंगा कि ज्ञान चतुर्वेदी अपने लेखन में 'प्रोलिफिक' भी हैं और सर्वोत्कृष्ट भी।

बेशक हिंदी में बाजार को लेकर लिखी गई इतने बड़े.'आभ्यंतर' वाली पहली कृति है, लगभग एक 'आधुनिक-क्लासिक' का दर्जा रखती है और इसको बिना किसी संकोच के विश्व-साहित्य की कुछ सर्वाधिक चर्चित कृतियों के समकक्ष रखा जा सकता है। मसलन आर्वेल, जोसेफ हेलर या अल्डुअस हक्सले की फैंटेसियों के बराबर। लेकिन हिंदी में अपने संकीर्ण अहम से सुलगते वृद्ध-समीक्षकों के लिए यह थोड़ा मुश्किल हा जाएगा कि वे इस कृति को अपने विगलित दुराग्रहों से बाहर आकर साहस के साथ सराह सकें। क्योंकि, उन समीक्षकों के घरों की घड़ियां बंद पड़ी हैं और चल भी रहीं हैं, तो उसमें एक ही समय टिक-टिक कर रहा है, वह समय, जब उसमें उनके किसी प्रीति-भाजन की कोई कृति छपकर आई थी।

विरोध के उठने की आवाज कैसे से आएगी...?

ज्ञान चतुर्वेदी ने उपन्यास के अंतिम अध्याय में इसके लिए नगर के पुराने घंटाघर की घड़ी से एक अनहद नाद की तरह प्रतिरोध की ध्वनि का सहारा लेकर 'काल' के विकराल होते जाने की एक रौद्र-ध्वनि का अद्भुत प्रतीक रखा है, जो एक अपराजेय 'आशावाद' का एक 'कलात्मक-सत्य' है। क्योंकि यही दुनिया और यही मनुष्य, जब दो-दो विश्व युद्धों, नागासाकी, हिरोशिमा, ऑशवित्ज के नर-संहारों कंसट्रेशन कैंपों और कई प्राकृतिक-विनाश और आसन्न-अदाओं से बचकर अंततः बाहर आया ही है और ये यक युग-सत्य भी है। बहरहाल, ज्ञान भी अपने उपन्यास में, त्रासद-परिवेश से इस तरह ओवर कम करता है कि कोई अतीत का ही एक 'विचार', अंत में फीनिक्स की तरह उठकर आता है।

बेशक हिंदी में बाजार को लेकर लिखी गई इतने बड़े 'आभ्यंतर' वाली पहली कृति है, लगभग एक 'आधुनिक-क्लासिक' का दर्जा रखती है और इसको बिना किसी संकोच के विश्व-साहित्य की कुछ सर्वाधिक चर्चित कृतियों के समकक्ष रखा जा सकता

एक ही लेखक में इन दो गुणों की युति सर्वथा अलभ्य है। उत्कृष्टता के जो गुण विश्व-स्तरीय साहित्य के लेखन में बरामद होते हैं, वे सभी गुण ज्ञान चतुर्वेदी के लेखन में हैं और वे विपुलता के साथ ही हैं। स्त्राविंस्की ने कहा था, 'जैसे ही हमें किसी प्रतिभा में महानता के गुण दिखाई देने लगें, हमें उसे तुरंत ही महान घोषित करने में विलंब नहीं करना चाहिए।' लेकिन हिंदी में तो हम अपने महानों के पीछे-पीछे कंधों पर कुदाल लिये फिरते हैं। ऐसे में यदि उसे कोई टंगड़ी मार के गिरा दें तो हम तुरंत वहीं उसे दफना कर आगे अपने इस अभियान में आगे बढ़ जाएं। अंग्रेजी अपने गोबर का भी मोतीचूर के मूल्य पर बेचना जानती है। लेकिन, हिंदी में, अपने उत्कृष्ट को उच्छिष्ट घोषित करने की, मालवी बोली के एक शब्द इस्तेमाल कर के कहूं में तो ये कि 'कोढ़िया-कुचरई' में ही लगे हैं। बहरहाल, ज्ञान चतुर्वेदी ने अपनी इस बहुत सूझ बूझ से लिखे गए इस उपन्यास के जरिए, स्वयं को उस मेधा का रचनाकार साबित कर दिया है, जो एक कालजयी का स्पष्ट दावेदार है।

यात्रा वृतांत से सांस्कृतिक आलोचना तक की यात्रा

ज्योति चावला

साहित्यकार

संपर्क : स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन स्टडीज एंड ट्रेनिंग 15 सी, न्यू एकेडमिक बिल्डिंग, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068

विनोद तिवारी की यह किताब रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी के साथ-साथ सांस्कृतिक आलोचना तो है ही, राजनीतिक आलोचना के भी कई उदाहरण यहां मिल जाते हैं। लेखक ने पूरी किताब को पांच अध्यायों में बांटा है -ठठरी का ठाठ और नक्शे में तुर्की, तुर्की दियारे में, हम तो अपने आरिफ के दिलों में पाए जाएंगे, काबा मिरे पीछे है कलीसा मिरे आगे और युवा तुर्क और तुर्की का राजनीतिक परिदृश्य। ये पांचों अध्याय आगे कई छोटे अध्यायों में बंटे हुए हैं जिसे यात्रा के क्रम में न देखा जाकर लेखक की मानसिक यात्रा के क्रम में देखा जाना चाहिए।

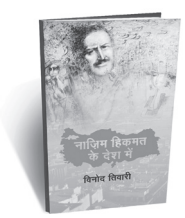

पुस्तक:
नाजिम हिकमत के देश में
लेखक:
विनोद तिवारी
प्रकाशक:
आधार प्रकाशन, पंचकुला (हरियाणा)
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ: 120
मूल्य: ₹ 200

कुछ किताबें ऐसी होती हैं जो खुद को पढ़वा ले जाती हैं चाहे आप कितने भी व्यस्त क्यों न हों। किताबें जो आपको अपना ही वक्त चुराने को मजबूर कर दें ऐसी किताबें स्मृति में देर तलक ठहर जाती हैं। 'नाजिम हिकमत के देश में' भी शायद एक ऐसी ही किताब है। लेखक विनोद तिवारी ने किताब को डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण और सांस्कृतिक आलोचना साथ-साथ कहा है। यानी यह किताब लेखक के तुर्की प्रवास के दौरान लिखी गई डायरी भी है, वहां के अच्छे-बुरे संस्मरणों का लेखा-जोखा भी है और उसके साथ-साथ ज्यों-ज्यों लेखक उस समाज, वहां की राजनीति से परिचित होता गया, ज्यों-ज्यों अपनी जानकारी और समझ के तुर्की को समझने की जद्दोजहद में तुर्की को और बेहतर जानता गया, यह किताब उस तरह और उसी तर्ज पर न केवल गंभीर होती गई अपितु तुर्की के राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक विमर्श का केवल ब्यौरा भी देने लगी और पूरे विमर्श में ठीक से पैठकर लेखक ने आलोचकीय दृष्टि भी अख्तियार कर ली।

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है कि तुर्की जाने के उत्साह में लेखक के दिमाग में एकदम स्पष्ट था कि वे अपने प्रिय कवि व अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त और आजादी के पक्ष में आवाज उठाने वाले नाजिम हिकमत के देश में जा रहे हैं और वहां जाकर वे उस कवि, उस क्रांतिकारी और स्वतंत्रता और समानता के पक्षधर समाज के आदर्श को और करीब से देखेंगे, जानेंगे और उन्हें और बेहतर समझने का प्रयास करेंगे। लेकिन नाजिम को जानने के क्रम में विनोद तिवारी को तुर्की के बारे में ऐसी अनेक जानकारियां प्राप्त हुईं जिन्हें समझे और जाने बिना आप लोकतंत्र के सही मायने नहीं समझ सकते।

विनोद तिवारी की यह किताब रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी के साथ-साथ सांस्कृतिक आलोचना तो है ही, राजनीतिक आलोचना के भी कई उदाहरण यहां मिल जाते हैं। लेखक ने पूरी किताब को पांच अध्यायों में बांटा है -ठठरी का ठाठ और नक्शे में तुर्की, तुर्की दियारे में, हम तो अपने आरिफ के दिलों में पाए जाएंगे, काबा मिरे पीछे है कलीसा मिरे आगे और युवा तुर्क और तुर्की का राजनीतिक परिदृश्य। ये पांचों अध्याय आगे कई छोटे अध्यायों में बंटे हुए हैं जिसे यात्रा के क्रम में न देखा जाकर लेखक की मानसिक यात्रा के क्रम में देखा जाना चाहिए।

दरअसल तुर्की देश लंबे समय तक ऑटोमन साम्राज्य रहा और ऑटोमन साम्राज्य के नियमों से संचालित रहा। ऑटोमन साम्राज्य का विखंडन और लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना का श्रेय तुर्की में कमाल अतातुर्क को जाता है। अपनी प्रगतिशील विचारधारा और लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था के कारण तुर्की में कमाल अतातुर्क को बेहद सम्मान और आदर प्राप्त है। आदर से उन्हें वहां कमाल पाशा कहा जाता है। कमाल पाशा एक बेहद क्रांतिकारी व्यक्तित्व के मालिक थे और यह बेहतर समझते थे कि ऑटोमन साम्राज्य किस प्रकार गणतंत्र विरोधी है। वहां के समाज में महिलाओं की स्थिति, धर्म के कठमुल्लापन, ऑटोमन साम्राज्य की राजशाही से मुक्त वे एक ऐसे समाज की कल्पना कर रहे थे जिसमें सभी व्यक्ति समान हों और जो समानता, संप्रभुता और आधुनिकता के आधार पर निर्मित एक सेक्युलर गणराज्य हो। बहरहाल, उनके प्रयासों से 23 अक्टूबर 1923 को वह तुर्की गणराज्य के रूप में एक स्वतंत्र राष्ट्र बना। हालांकि उन्होंने अरबी लिपि का विरोध किया और तुर्की के लिए रोमन लिपि के प्रबल समर्थक रहे, इसके पीछे के कारणों को संबंधित समाज की धार्मिक, राजनीतिक, सामरिक स्थितियों को जानकर ही समझा जा सकता है। लेकिन तुर्की गणराज्य में कमाल पाशा का स्थान उतना ही सम्माननीय है जितना कि भारत में गांधी का। लेखक ने कमाल पाशा के मकबरे की तुलना राजघाट से करके इस स्थापना पर मुहर लगा दी है।

डायरी के शुरुआती पृष्ठों में लेखक यात्री या सैलानी की भूमिका में नजर आते हैं और हर चीज को कौतुक की नजर से देख उसे अपनी डायरी में दर्ज करते जाते हैं। एक अच्छे सैलानी के शायद ये गुण भी हैं। इन्हीं कौतुकों में से कुछ हैं जब वे यह जानते हैं कि तुर्की में गोबर को गोबर ही कहा जाता हैं, तुर्की जैसे

सुदूर देश में भी रवींद्रनाथ टेगोर को बड़े सम्मान से याद किया जाता है। वहां के लोगों में रवींद्र के प्रति अति आदर और सम्मान को देख लेखक अभिभूत है और वह सांझा करता है कि टैगोर का कथन कि 'हिंदुस्तान एक विचार है न कि मात्र भूगोल' लोगों को बहुत प्रभावित करता है। तीसरी दुनिया के एक देश का एक लेखक किसी विकसित देश में इतना सम्मान के साथ याद किया जाता है, यह जानकर एक आम सैलानी का मन खुशी से झूम उठता है। तुर्की जाकर मुल्ला नसरुद्दीन के किस्से सुन उनसे अपना तादात्म्य जोड़ता लेखक वास्तव में एक अजनबी देश की सभ्यता से परिचित नहीं हो रहा होता अपितु इन किस्सों और प्रसंगों के माध्यम से एक अनजान देश, अनजान संस्कृति और अनजान लोगों के बीच अपने लिए एक परिचित कोना तलाश रहा होता है और उसमें उसी स्पर्श की कल्पना करने लगता है जो अपने समाज और संस्कृति में रहते हुए अनजाने ही सही, किंतु उसके जीवन का हिस्सा होती है। मुल्ला नसीरुद्दीन के किस्से तुर्क देश से घूमते हुए यूं ही भारत तक पहुंचे होंगे और धीरे-से हमारी पहचान का हिस्सा हो गए होंगे। लेखक उन किस्सों में अपने ही हिस्से को तलाशकर सुकून महसूस करता है और इस एहसास से सुकून पाता है कि वह अपनी जमीन, अपनी संस्कृति से बहुत दूर नहीं। लेकिन ज्यों-ज्यों वह इस सभ्यता से, इस समाज से रूबरू होने लगता है, उसे बेहतर समझने की कोशिश करता है और उस समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक बुनावट के ताने-बाने को पकड़ने लगता है।

विनोद तिवारी के साथ-साथ आप भी तुर्की और तुर्की के नए-पुराने शहरों, स्टेडियमों, परंपराओं, कहानियों, किंवदंतियों और प्रेमकथाओं से रू-ब-रू होते जाते हैं। मुल्ला नसीरुद्दीन को खोजते-खोजते उसके गांव तक चले जाना और फिर इसी कौतुक के चलते इतिहास को खंगालना केवल सैलानी के लक्षण नहीं अपितु एक सैलानी के भीतर छिपे शोधकर्ता की दृष्टि ही कही जा सकती है। विनोद तिवारी लिखते हैं, 'संभव है कि जहां-जहां तैमूर गया हो, उसके साथ-साथ मुल्ला नसीरुद्दीन भी रहा हो क्योंकि दुनिया के उन्हीं देशों में मुल्ला नसीरुद्दीन जिंदा हैं जहां तैमूर के आक्रमण हुए।' (पृ. 43) और मुल्ला नसीरुद्दीन के मजेदार किस्से सुनते-सुनते हम ऐतिहासिक तथ्यों से भी वाकिफ होते चलते हैं।

विनोद तिवारी तुर्की घूमते हुए उसके हर आयाम पर बात करने की कोशिश करते हैं। तुर्की की यात्रा करते हुए वे उसके हर महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक, सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व वाले शहर से गुजरते हैं। वे तुर्की की राजनीतिक राजधानी अंकारा में तो ठहरते और घूमते ही हैं, साथ-साथ तुर्की की आर्थिक राजधानी इस्तांबुल, सांस्कृतिक राजधानी केन्या के साथ-साथ सांस्कृतिक राजधानी अंताल्या भी घूमते हैं और उनसे जुड़े जरूरी और रोचक तथ्यों से पाठकों को परिचित करवाते चलते हैं।

अंताल्या की सैर करते हुए वे विश्व प्रसिद्ध ओपन थियेटर एस्पेंदोस की झलक दिखाते हैं और अंताल्या की प्राकृतिक खूबसूरती और उस नगर की स्थापना

विनोद तिवारी की पुस्तक नाजिम हिकमत के देश में नाजिम के देश की सिरे से पड़ताल करने की कोशिश करती है। यह पड़ताल सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक होने के साथ-साथ राजनीतिक और कूटनीतिक भी है। इसलिए इस एक यात्रा में तुर्की में घूमते-घूमते हमसे कमाल पाशा तो टकराते ही हैं, उनके साथ-साथ मुल्ला नसीरुद्दीन से भी मुलाकात होती है।

के पीछे के इतिहास की भी जानकारी देते हैं। एस्पेंदोस का निर्माण, उससे जुड़ी प्रेम कहानी और वर्तमान में उसके भग्नावशेष सब एक सूत्र में एक दूसरे के बगल में आकर खड़े होते हैं और तीसरी दुनिया के हम जैसे पाठकों के समक्ष रहस्य का पिटारा सा खुलने लगता है। मसनवी गायक मौलाना रूमी की दरगाह जाकर और उनके जीवन को नजदीक से महसूस कर हम इतिहास में दबे कई किरदारों को करीब से महसूस कर पाते हैं।

पूरी किताब कौतूहल से पढ़ रही थी लेकिन नजरें बार-बार उन नामों के जिक्र के लिए बेचैन थीं जिन्हें और जानने के लिए इस किताब को पढ़ना जरूरी समझा था -नाजिम हिकमत और ओरहान पामुक। जाहिर है और लोगों की तरह और स्वयं लेखक की ही तरह मैंने भी ये दो नाम ही ज्यादा सुने थे और इनके लेखन से ही कुछ-कुछ परिचय था इसलिए नजरें इन्हें ही तलाशती रहीं। विनोद तिवारी लिखते हैं, यहां आने के बाद धीरे-धीरे पता चला कि इन दोनों लेखकों पर आप खुलकर बातचीत नहीं कर सकते। लोग कतराते हैं। दुनिया भर में इनकी चाहे जितनी स्वीकृति हो, पर तुर्की में उतनी नहीं। (पृ. 56) दरअसल युवा तुर्कों और कमाल अतातुर्क के प्रयासों के बाद तुर्की ऑटोमन साम्राज्य से तुर्की गणराज्य तो बन गया लेकिन ताउम्र ऑटोमन और गणराज्य के मूल्यों के बीच झूलता रहा। सब कुछ के बावजूद तुर्की में अभिव्यक्ति की आजादी आज भी पूरी तरह से लागू नहीं है। पूर्णतः कम्युनिस्ट विचारों के पक्षधर नाजिम अभिजात-कुलीन परिवार में पैदा हुए थे लेकिन कम्युनिज्म उनकी रगों में बहता था। कुलीन परिवार के होने के बावजूद वे ताउम्र समाजवाद के पक्षधर रहे और निर्वासित जीवन जीते रहे। उन्हें जीते-जी अपने देश में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था लेकिन उन्होंने कभी हार नहीं मानी और राष्ट्र-राज्य की सीमा से परे वैश्विक जमीन पर अपनी कविता लिखते रहे। 'वे विश्व-कविता की मिसाल थे। दुनिया भर के मजलूमों और मासूमों के हक में नाजिम की कविता एक उम्मीद की तरह है'। (पृ. 56) नाजिम की एक कविता यहां पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं -

चूंकि वे चांद पर जाएंगे/और उससे भी आगे उन ऊंचाइयों तक/जिन्हें दूरबीनें भी नहीं पकड़ सकतीं/लेकिन जमीन पर/आखिरकार कब कोई भी भूखा नहीं होगा/या किसी से खौफ नहीं खाएगा/या कब लोग यहां-वहां धक्के नहीं खाएंगे/दुतकारे नहीं जाएंगे/उनके हक मारे नहीं जाएंगे/चूंकि मैं ये सवाल उठाता हूं/कम्युनिस्ट कहा जाता हूं। (पृ. 40, प्रेम कविताएंः नाजिम हिकमत, चयन एवं अनुवादः सुरेश सलिल, वाणी प्रकाशन)

नाजिम की कविताओं से गुजरना उस मानसिक यंत्रणा का अनुमान लगाना है जिससे नाजिम गुजरे होंगे और जिसे महसूस करने और करीब से जानने-समझने का प्रयास लेखक भी करते रहे। विनोद तिवारी ने अपनी इस किताब में नाजिम की कुछेक कविताओं का अनुवाद भी किया है जो कथ्य और नाजिम को बेहतर और बेहतर समझने के लिए तो आवश्यक है ही, कविता के अनुवाद की दृष्टि से भी बेहतरीन उदाहरण हैं। ऐसी ही एक कविता है, स्वतंत्रता जिसे जितनी बार पढ़ो, उतनी बार उस कष्ट का और सत्ता की ताकत व आम आदमी के लिए स्वतंत्रता के मायने सत्तानशीनों की निगाह में क्या है, इसका अनुभव होता है और रह-रहकर मुक्तिबोध अपनी अंधेरे में कविता के साथ आंखों के आगे आ खड़े होते हैं। नाजिम का जीवन लेखक के लिए प्रेरणास्त्रोत रहा। जितना गंभीर और जितना मन से वे नाजिम के बारे में लिखते हैं, अंदाजा लगाया जा सकता है कि नाजिम को और उनके समय को कितना करीब से महसूस कर रहे होंगे। नाजिम की मौत के पैंतालीस-छयालीस वर्षों बाद तुर्की ने उसे अपना कवि माना और 2009 में उनकी नागरिकता को मान्यता दी।

द स्नो और माय नेम इज रेड के लेखक और नोबेल पुरस्कार से सम्मानित ओरहान पामुक से हमारा परिचय 2006 में होता है। अपने उपन्यासों में तुर्की समाज की और खासतौर पर बुर्जुआजी समाज की मनोवृत्ति पर से पर्दा उठाने के कारण तुर्की में ओरहान को पसंद नहीं किया जाता। ऑटोमन साम्राज्य से मुक्ति और स्वतंत्र गणराज्य हो जाने के बावजूद भी तुर्की में रह-रहकर इस्लामिक टर्न आते रहते हैं जहां पारंपरिक-आधुनिकता और यूरो-केंद्रित आधुनिकता के बीच बहस छिड़ती रहती है। युवा वर्ग जहां यूरो-केंद्रित आधुनिकता के पक्षधर हैं वहीं पुरातनपंथी इस्लामिक आस्थाओं में विश्वास रखते हैं। अपनी रचनाओं के माध्यम से इस दोहरी मानसिकता का विरोध नाजिम भी करते रहे और ओरहान पामुक भी। अपनी पुस्तक में ओरहान पामुक के बेहद चर्चित उपन्यास दि म्यूजियम ऑफ इनोसेंस की बड़ी रोचक चर्चा विनोद तिवारी ने की है जिससे गुजरना ओरहान पामुक के रचना-कर्म से गुजरना है।

किसी भी राष्ट्र अथवा समाज को बेहतर समझना हो तो उसकी संस्कृति को समझना बहुत जरूरी है। भौगोलिक रूप से देखें तो तुर्की एशिया का एक बड़ा देश है जिसका एक हिस्सा यूरोप को छूता है। यानी यूरोप और एशिया के बीच झूलता यह देश अपने मूल्यों को लेकर भी इसी तरह उलझा है। अपने गणतंत्र के नब्बे से अधिक वर्ष पूरे करने के बाद भी वह इसी स्थिति में है। एक ओर वह यूएनओ, ओएससीई

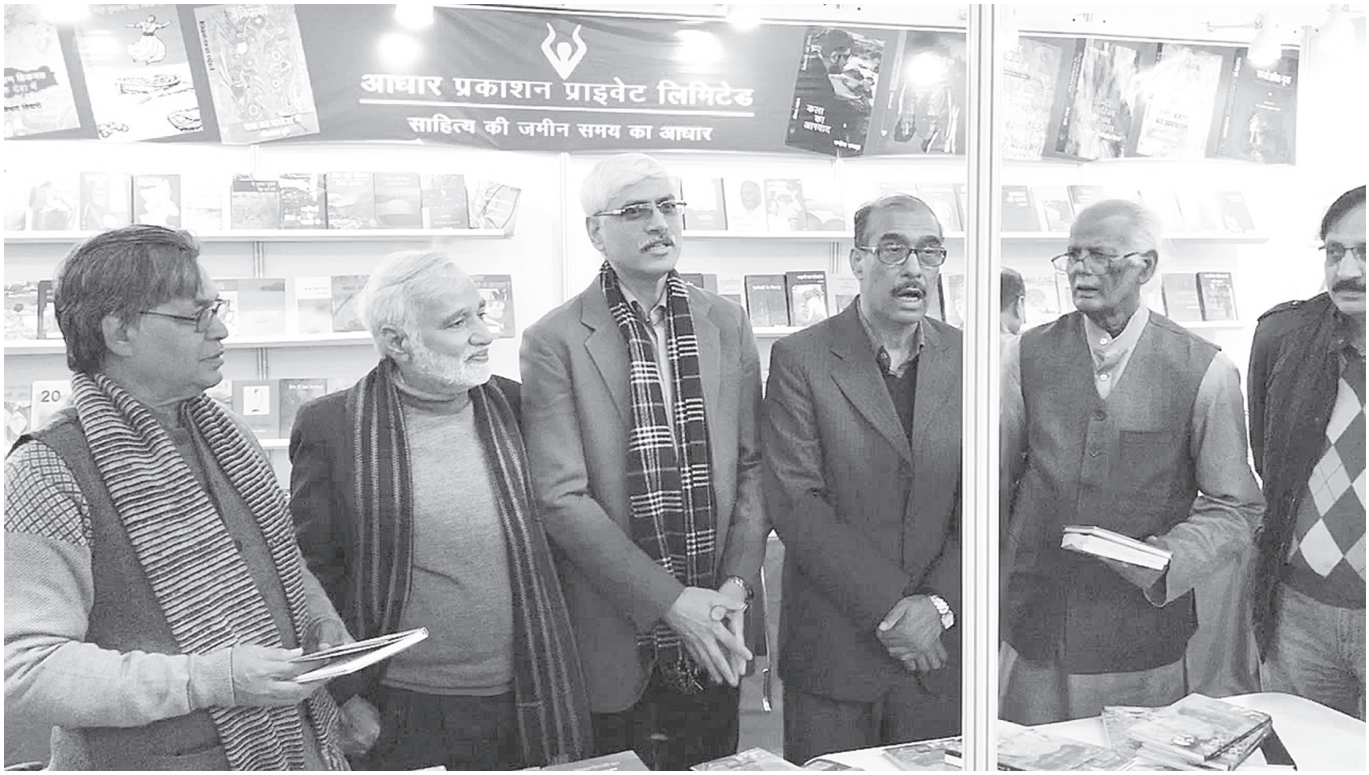

पुस्तक 'नाजिम हिकमत के देश में' का विमोचन करते हुए वीरेंद्र यादव, उर्मिलेश, विनोद तिवारी, गोपेश्वर सिंह, चौथीराम यादव तथा राजकुमार राकेश

और नाटो जैसी संस्थाओं का सदस्य है तो दूसरी ओर वह इस्लामिक राष्ट्रों की अगुआई भी करना चाहता है। यूरोपीय संघ की सदस्यता की चाहत रखने वाला तुर्की आंतरिक द्वंद्व का शिकार है जहां वह एक साथ यूरो-केंद्रित आधुनिकता और पारंपरिक आधुनिकता के बीच झूल रहा है। गणराज्य कहलाने वाले इस राष्ट्र में स्त्रियों की क्या स्थिति है इसे इस किताब के मार्फत जाना जा सकता है। स्त्रियों के खिलाफ हिंसा, बाल विवाह और स्त्री को केवल एक पण्य के रूप में समझना - ये सारे तथ्य तुर्की के छद्म गणराज्य की कलई खोलते से प्रतीत होते हैं। विनोद तिवारी लिखते हैं-एक स्त्री की कुल सच्चाई यह है कि जब से ऑर्गेनिक ढंग से वह संतान उत्पन्न करने के लायक हो जाए और जब तक इस लायक बनी रहे उसे अधिक से अधिक संतान उत्पन्न करना चाहिए। इस दुनिया में वह पैदा ही इसलिए हुई है। (पृ. 74) तुर्की के इस छद्म गणराज्य की आलोचना वहां के लेखक करते रहते हैं जिसके चलते उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। तुर्की में घरेलू हिंसा और बाल विवाह के आंकड़े देखकर अचरज होता है कि विकसित देशों की श्रेणी में आने के बावजूद उसके स्त्री शोषण संबंधी आंकड़े किसी भी तरह भारत से बेहतर नहीं है। इसी संदर्भ में गरिमा श्रीवास्तव की किताब देह ही देश की याद हो आती है और यह सच और मजबूत हो जाता है कि पूरे विश्व में चाहे कोई भी देश हो, स्त्रियां हाशिए पर ही खड़ी नजर आती हैं। अपनी बात के पक्ष में वे सर्बिया, क्रोएशिया और बोस्निया की स्त्रियों की स्थिति के आंकड़े प्रस्तुत करती हैं।

विनोद तिवारी तुर्की में केवल सैलानी बनकर नहीं रहते, अपितु उसकी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-सामरिक बुनावट को समझने की कोशिश करते हैं। तुर्की एक तरफ इस्लामी देशों का अगुआ बनना चाहता है और दूसरी ओर यूरोप तथा अमेरिका में अपनी लोकतांत्रिक पहचान के लिए जद्दोजहद कर रहा है। नाटो का सदस्य होने के नाते वह यूरोप और अमेरिका के किसी कदम का विरोध नहीं कर सकता किंतु सीरिया के विरुद्ध यूरोप और अमेरिका के व्यवहार का वह समर्थन भी नहीं करना चाहता। अपनी इस दोहरी राजनीति में उलझा तुर्की कूटनीतिक कदम उठाता रहता है क्योंकि वह एकसाथ इस्लामिक राष्ट्र की छवि और पश्चिमी ढंग की लोकतांत्रिक छवि दोनों को साथ लेकर चलना चाहता है।

विनोद तिवारी की पुस्तक नाजिम हिकमत के देश में नाजिम के देश की सिरे से पड़ताल करने की कोशिश करती है। यह पड़ताल सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक होने के साथ-साथ राजनीतिक और कूटनीतिक भी है। इसलिए इस एक यात्रा में तुर्की में घूमते-घूमते हमसे कमाल पाशा तो टकराते ही हैं, उनके साथ-साथ मुल्ला नसीरुद्दीन से भी मुलाकात होती है। उनके रोचक किस्सों में डूबते-उतराते हम मौलाना रूमी के भी हाथ चूमते हैं, एस्पेंदोस का ऐतिहासिक स्टेडियम भी हमें आकर्षित करता है। हमें युवा तुर्क के मुहावरे की पडताल करते-करते युवा तुर्कों द्वारा शुरू किए गए आंदोलन से भी परिचित होते हैं और पाते हैं कि कमाल अतातुर्क और आगे चलकर नाजिम हिकमत के क्रांतिकारी विचारों की नींव इस युवा तुर्क आंदोलन में ही कहीं हैं। ओरहान पामुक का अपने ही समाज में क्यों विरोध हुआ, क्यों समाजवाद की स्थापना के आकांक्षी नाजिम हिकमत को ताउम्र देश निकाला भोगना पड़ा, ये सारे तथ्य हमें लगातार बेचैन करते चलते हैं और हम महसूस करते हैं कि कोई सभ्यता, कोई देश हो चाहे वह विकसित के पैमाने पर खरा उतरता हो या विकसित कहलाने की जद्दोजहद कर रहा हो, इस होड़ में वह सबसे अधिक जिसे कुचलता है, वह मानवता है, उसकी स्वतंत्रता है क्योंकि विकास की राह में जज्बातों से काम नहीं लिया जाता। न जाने कितने नाजिम फना हुए होंगे, न जाने कितने आंदोलन कुचले गए होंगे तब जाकर किसी राष्ट्र को दुनिया की सबसे बड़ी ताकत ने स्वीकारा होगा। यूएन या नाटो की सदस्यता इसके उदाहरण हैं। चलते-चलते नाजिम की कविता जिसका विनोद तिवारी ने अंग्रेजी से अनुवाद किया है -

तुम खर्च करते हो अपनी आंखों का शऊर/
अपने हाथों की जगमगाती मेहनत/और गूंथते हो आटा
दर्जनों रोटियों के लिए काफी/मगर खुद एक भी कौर
नहीं चख पाते/तुम स्वतंत्र हो दूसरों के वास्ते खटने
के लिए/अमीरों को और अमीर बनाने के लिए/तुम
स्वतंत्र हो।

कहानी

अतीत से वर्तमान तक चहल कदमी करती कहानियां

प्रतापराव कदम

कवि, कथाकार

संपर्क :
शकुन नगर खंडवा (म.प्र.)

पुस्तक:
पेड़ खाली नहीं है
लेखक:
नरेंद्र नागदेव
प्रकाशक:
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 215
मूल्य: ₹ 380

एक साहित्यकार में इतिहासकार, समाज-वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और किन्हीं संदर्भ में भविष्यवेता भी शामिल होता है। इस बात को नरेंद्र नागदेव का कहानी संग्रह 'पेड़ खाली नहीं है' साबित करता है। संग्रह की पहली कहानी के अंत में नागदेव इतिहासिक तथ्य को सामने रखते हैं, बकलम नागदेव- ''बाद में विलयम हेनरी स्लीमन पर कई पुस्तकें लिखी गई, लेकिन किसी भी पुस्तक में नेकसिंह का जिक्र नहीं मिलता। इतिहास यों भी उन लोगों को कम ही याद रखता है, जो सचमुच इतिहास बनाते हैं।'' हमारे इतिहास में उन लोगों का जिक्र नहीं है, है भी तो उन्हें इस अनुसार ढाल दिया है जैसे राजनीतिज्ञ उन्हें अपने स्वार्थ के चलते ढालना चाहते थे, आज इतिहास को जिस चश्में से देखा जा रहा वह भी इस बात की पुष्टि करता है। नरेंद्र नागदेव की कहानियां इतिहास की कंदराओं से वर्तमान तक का फासला तय करती पाखंड, संकीर्णता को बेनकाब करती समय की नब्ज पर अंगुली रखती हैं। भाषा का प्रवाह ऐसा की आप उसके साथ हो लेते हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'तंबाकू लाना जरा' का समय 1829 के आस-पास का है, किस्सा-कोताह यह कि -ठगों का अपना संसार है, धर्म की आड़ है, इतिहास गवाह है कि धर्म की आड़ में कोई भी धंधा खूब फलता फूलता है फिर वह ठगी ही क्यों न हो। एक गांव है, रंगपुरा। ठगों का गांव। एक काली मंदिर है, ठग अपने शिकार पर जाने के पहले मंदिर जाते हैं, दर्शन करते हैं, बली देते हैं और निकल पड़ते हैं अपनी मुहीम पर। नर्मदा परिक्रमा पर जो यात्री आते हैं, ठग उस यात्रा में शामिल हो जाते हैं, फिर संपन्न आसामी देख उससे दोस्ती गांठ लेते हैं, उसका विश्वास जीतते हैं फिर मौका देखकर, एक इशारा करता है 'तंबाकु लाना जरा' तबैक मुखिया गला काट देता है, गला घोट कर मार देता है फिर लाश को गड्ढा खोदकर गाड़ दिया जाता है, यह सब जब किशोरवय नेक सिंह के सामने घटता है, कोई और नहीं उसके पिता जो मुखिया है, इसे अंजाम देते हैं तो वह भागता है इस ठगी के संसार से, पिता के साए से और आश्रय पाता है एक अंग्रेज विलियम स्लीमेन के पास। स्लीमेन एक काबिल अफसर जो ठगों द्वारा मारे गए लोगों की तहकीकात करने, ठगों को सलाखों के पीछे पहुंचाने के लिए स्वयं नर्मदा परिक्रमा पर निकलता है और नेक सिंह के मार्फत कामयाब भी हो जाता है, यह पूरा चित्रण इतने सधे हुए अंदाज में कथाकार नरेंद्र नागदेव कहते हैं कि लगता है नर्मदा परिक्रमा में पाठक शामिल हैं। ठगी याने झांसा देकर उस माल, असबाब, चीजों को हथिया लेना जिस पर आपका अधिकार नहीं है। इस समाज विरोधी कृत्य के क्या कुछ आनंद भी हो सकते हैं? नरेंद्र नागदेव ठगी के आनंद गिनवाते हैं-

1. खतरों से खेलने का आनंद, वह भी सामने वाले को विश्वास में लेकर,

2. मरने वाले की आंख में अविश्वास, भय की तड़प देखने का रोमांच, रोमांच का आनंद,

3. सज्जन पुरुष का मुखोटा लगाए शैतान के पोषण करने का आनंद,

4. ठगी से प्राप्त धन के साथ समृद्ध इज्जतदार नागरिक बने रहने का आनंद।

नरेंद्र नागदेव भी खूब हैं, क्या वे यह नहीं कहते कि आज भी हमारी व्यवस्था में ऐसे आनंद लेने वाले बहुतेरे नजर आ रहे हैं, इतिहास में या ठगों की दुनिया में झांकने की क्या जरूरत, आनंद के अतिरेक में डूबे ये संस्कृति, धर्म, नैतिकता की दुहाई देते हैं, इन्हें ज्यादा तपासने की जरूरत नहीं है। आज मृत्यु हत्या आंकड़ों में बदल रही है और उस दिशा में काम करने, समस्या से निजात दिलाने के बजाय उस पर बहस हो रही है और एंकर के चेहरे पर एक प्रकार का संतोष आनंद का भाव है कि कैसे उसमें एक गंभीर विषय को भी राजनीतिक मकसद साधने का माध्यम बना लिया है।

शिक्षक एक संभावना की तरह इन कहानियों में आता है पर ठेकेदारों द्वारा उसे रास्ते से हटा दिया जाता है। आज भी शिक्षकों की स्थिति में फर्क आया हो, ऐसा नहीं लगता। अपने शहर से 10-15 कि.मी. दूर ही किसी गांव की प्राइमरी स्कूल के शिक्षक को देख ले। पंच, सरपंच, समिति सेवक, नेता न जाने किस किसकी हुक्म अदुर्ली करना होती है उसे, नहीं तो स्थानांतरण की तलवार लटकी है। उसे आदर्श की बातें करनी है, पर उसे समाज के मठाधीशों में ढूंढ़ना नहीं है, यहां पर भी, ठगी का माल लेकर मुखिया आते हैं तो शिक्षक प्रश्नचिन्ह लगाता है, मुखिया से पूछता है-''ऐसी कौन सी तीर्थयात्रा पर जाते हैं कि इतने मालामाल होकर लौटते हैं...'' दो कौड़ी के मास्टर की इतनी जुर्रत! परिणाम शिक्षक की सार्वजनिक पिटाई। नरेंद्र नागदेव कहीं-कहीं मध्यकालीन अंधकार का जिक्र करते हैं जो धर्म की आड़ में फन काढ़ता है जिसमें विवेक का, नैतिकता का कोई काम नहीं, नरेंद्र नागदेव की कहानी का कालखंड भले ही 1829 हो, पर जरूरी नहीं की बात उसी कालखंड पर लागू हो, वे परिक्रमा का चित्रण करते इस अंधकार पर रोशनी डालते, कहते हैं, ''यात्रा चल रही है। उसी वन प्रांतर में, जहां मध्यकालीन अंधकार युग अभी तक पसरा है, जिसमें 'काली' अपनी लाल जिव्हा बाहर निकाले, आंखे फाड़े, हाथों में कटा नरमुंड, खून भरा खप्पर और रक्तरंजित खड्ग घुमाते हुए, भीषण मृत्युनाद करती हुई, चक्रवात सी घुमती है।'' तो वे मध्यकालीन बर्बरता को भी चित्रित करते हैं ''अवसरग्रस्त प्रेमी के रूप में उसकी (शाहजहां की) छवि बाद में जो बनी हो लेकिन सच तो यह है कि वह उतना सख्त और निरंकुश भी था, जितना किसी मध्ययुगीन को होना चाहिए।'' (कहानी दादाशिकोह की उपनिषद, पृ. 66)

'गिद्' कहानी भी नरेंद्र नागदेव के सामर्थ्य से परिचित कराती है। पर्यावरणविद् चिंतित हैं कि गिद्द कम होते जा रहे हैं। नागदेव की चिंता है कि गिद्दपन बढ़ रहा है। बहुत ही मार्मिक और जबरदस्त कहानी जिसके केंद्र में है बावरा और मुखिया, नहीं गिद्द। बावरा नाजायज संतान है, उसकी मां को इसी आरोप में गांव बाहर किया, मां के मरने के बाद भी नाजायज औलाद का आरोप उस पर चस्पॉ रहा, मां जब तक शरीर भी मुखिया और गांव वालों में पूछ परख थी पर...। गांव में भयानक सूखा, सूखे का जीवंत चित्रण करते हैं नरेंद्र नागदेव- ''अरे बंधु, सूखा पड़ता है। बिना बादल का आकाश जब तपता है तो अनंत में नहीं, लोगों के चेहरों पर तपता है।... और प्यास के लिए पपड़ी में होंठो से अधिक उपयुक्त स्थान और हो सकता है। कोई?

सूखे की वजह से गांव खाली हो जाता है। जहां जल है वहां जीवन है, जल की तलाश में चल पड़ा गांव, बैलगाड़ियां पर सवार -''सूखी और दरारों से भरी जमीन पर खड़-खड़ करती बैलगाड़ियों की लंबी कतार, लटके हुए चेहरे ... मरियल बैल...और धूप तेज हो जाने के पहले कहीं न कहीं पहुंच जाने की व्यग्रता और क्रमशः दूर और दूर, पीछे छूटता हुआ गांव।'' पर नाजायज संतान बावरे को मुखिया गांव में ही छोड़ जाता है। बावरा भी एक जिद की तरह कुआं खोदने में लग जाता है, पर कुआं खोदने का सामान मुखिया के पिछवाड़े के दालान से बावरा लाता है, कुआं खोदा बावरे ने, पानी भरपूर पर मुखिया कैसे दे कुअें का श्रेय बावरे को, मुखिया कुल्हाड़ी, फावड़ा, हथौड़ा चुराने के आरोप में बावरे को पुलिस को सौंप देता है, गिद्द कहीं नहीं सामने ही होता है। दूसरे का हक, श्रेय को हजम ही नहीं कर जाना, उसे इस तरह दंडित, प्रताड़ित करना कि रूह भी कांप जाए, इस तरह के चरित्र तब भी थे, अब भी कम नहीं है, गिद्द के मार्फत नरेंद्र नागदेव उन्हें बेनकाब करते हैं। कहानी में सन्नाटे का, अकेलेपन का जिस तरह से नरेंद्र नागदेव शब्द चित्र खींचते हैं उससे अकेलेपन का, सन्नाटे का अहसास होने लगता है, बानगी देखें, ''वह पहला दिन था जब एक निर्जन गांव में बिलकुल अकेला था, वह दोपहर हो चली थी। गर्म हवाएं बेरोकटोक गलियों में धड़धड़ा रही थी। पर उसे वे असहनीय नहीं लगी। कम से कम उनके सरसराने से आवाज तो पैदा हो रही थी और कुछ नहीं तो पेड़ों की शाखाएं हिलती हुई तो लग रही थी। कुछ अहसास तो हो रहा था जिंदगी का उस सूने गांव में। उसे किसी तरह का सूनापन अथवा भ्रम महसूस नहीं हुआ बल्कि पहली बार उसे महसूस हुआ कि कोई आंख उसकी ओर हिकारत से नहीं उठी है।''

अकेलेपन, सन्नाटे भय से भी गलीच बदतर है हिकारत, जो उसके मनुष्य होने को ही खारिज कर देती है। हमारे समाज में न जाने कितने हिकारत की जिंदगी जीते हैं, जिनके जीने को कोई नोटिस नहीं करता, मरने पर जरूर वे आंकड़ें में तब्दील हो जाते हैं, कई बार वह भी नहीं। मनुष्य की हैसियत से खारिज करने वाली हिकारत से कोड़ की तरह निजात पाना चाहता है। 'बावरा', पर कथित ठेकेदार गिद्द की तरह नजर जमाए रहते हैं, ''अब वो नाजायज लौंडा हमारे सामने सिर उठाकर चलेगा? क्यों? और हम गांव भर में डोलेंगे उसके एहसानों में दबें?'' और हिकारत, नहीं गिद्द, नहीं ठेकेदार अपना काम कर जाते हैं।

'दाराशिकोह की उपनिषद' कहानी शुरुआत में ही कहानी का मर्म बता देती है, ''इतिहास के साथ मुश्किल है कि 'सत्यमेव जयते' को लेकर वह अक्सर दुविधा में रहता है।'' जालसाजी, फ्राड, धोखा, फरेब, मक्कारी, दगाबाजी, पशुता को आप कितनी भी लानत मलामत दे, पर जीतती वही है और जो जीता सो सिंकदर फिर संदर्भ आज का हो या अतीत का...दाराशिकोह का हो या औंरगजेब का। नरेंद्र नागदेव की अन्य कहानियों की तरह ही यह कहानी अपनी यात्रा फ्लेश बैक के मार्फत पूर्ण करती है पर यहां दिक्कत यह है कहीं कहीं इससे प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, अन्य कहानियों से अलहदा। एक कुशल निदेशक भी एक दो दफे फ्लेश बैक के मार्फत आगे बढ़ता है पर हर घटना के बाद यह हो तो... कहीं

नरेंद्र नागदेव

अवरोध सा लगता है जुड़ने में, वही दिक्कत यहां आती है। हालांकि कहानी के पीछे जो मैसेज है वह समझ में आ जाता है। नरेंद्र नागदेव की यह खासियत है कि वे चित्रण तो इतिहास का करते हैं पर वहां साकार वर्तमान होता है, बादशाह जब भ्रमण पर, अपने कामों का जायजा लेने निकलते हैं तो वही दृश्य दिखता है जो हमारे आज के वी.आई.पी. के निकलने पर नजर आता है, देखें - ''बादशाह स्वयं निर्माण कार्य का जायजा लेने अकसर आ जाते थे। कभी-कभी घोड़ों पर उनके शहजादे भी साथ होते थे। तब उनका रास्ता बनाने के लिए सैनिक आतंक मचा देते थे। भगदड़, मारपीट और धक्के मारकर मजदूरों को किनारे करते थे। कोई रेत, ईंट या चूने का ढेर रास्ते में छूट गया तो शामत आ जाती थी।

कथाकार नागदेव ठगों की दुनियां में झांके, गिद्द प्रवृत्ति को रेखांकित करें, दाराशिकोह की उपनिषद की बात करें या गुमशुदा की। उनकी जिद मूल्यों के अंकन की रहती ही है, उनका पक्ष स्पष्ट नजर आता है। वे जब लोक-कथाओं के मार्फत हमारे समय को, जीवन को चित्रित करते हैं तो जो मैसेज वे देना चाहते हैं, संप्रेषित हो जाता है। ऐसा वही लेखक कर सकता है जो लोक-जीवन में रचा बसा हो, क्योंकि वहीं लेखक यह कह सकता है कि लोक में रचे-बसे किस्सों की कहानी जीवन की कहानी से कतई अलहदा नहीं है और जहां है वह भी नरेंद्र नागदेव रेखांकित करते हैं। 'अब हंसी नहीं आती' ऐसे ही किस्सों के मार्फत जिंदगी की कहानी कहती है। किस्सा एक-शेख चिल्ली सिर पर दही की मटकी लिए जा रहा था। सड़क पर...रास्ते में उसे एक पैसे का सिक्का पड़ा मिला। उसे हाथ में लेते ही उसकी कल्पना के पंख लग गए...कि इस सिक्के से पहले तो मैं यह खरीदूंगा... उसे मुनाफे में बेचकर दो पैसे मिलेंगे तो उससे वह खरीदूंगा... उसे बेचकर चार पैसे में उससे बड़ी चीज खरीदूंगा... खरीद बेच... खरीद बेच... पूंजी बढ़ती जाएगी... व्यापार बढ़ता जाएगा... फिर घर खरीदूंगा... फिर काठी, फिर शादी होगी, फिर बच्चे... फिर मैं दादा बनूंगा... सोने के सिंहासन पर बैठूंगा, पोते मेरे कंधों पर चढकर मस्ती करेंगे... पर अगर उन्होंने दाढ़ी में हाथ लगाया तो मैं गुस्से में कसकर उन्हें ऐसे झटक दूंगा... ऐसे और इस झटके से दही की मटकी नीचे गिरी और चूर चूर हो गई फिर? भीड़ इकट्ठा हो गई ... सब हंसने लगे। यहीं पर कहानीकार नागदेव हस्तक्षेप करते हैं- क्या उसमें सचमुच कोई हंसने वाली बात थी? उसे एक सिक्का मिला था और उसने आनन-फानन में सपने बुन लिए। ऐसा क्या गलत किया, जिंदगी के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर कदम धरते हम सब यही किया करते हैं और उस सपने के अकस्मात टूटने का दंश झेलते हैं। लोक कथा आज के जीवन के साथ, हमारे साथ कदमताल करके चलने लगती है।

किस्सा दो चोर को पकड़कर सिपाही राजा के दरबार में ले गए। राजा न्यायप्रिय था। उसने चोर को ही निर्णय करने का अधिकार दिया कि वह तय कर ले कि सजा के तौर पर पच्चीस कोड़े खाना चाहेगा या पच्चीस तेज मिर्चिया? चोर ने कोड़े खाने की सजा स्वीकार कर ली। कोड़े शुरू...एक...दो...तीन...चार... हर कोड़े पर चीख चीखता और पांचवें कोड़े पर तो वह राजा के चरणों में लेट गया कि हुजूर दूसरी सजा ठीक है... मिर्चिया मंगा दें।

मिर्ची एक...दो...तीन...चार...हर मिर्ची के साथ वह छटपटाता, चिल्लाता और पांचवीं मिर्ची पर तो राजा के पैरों में लोट गया कि हुजूर इससे तो कोड़े ही लगा दीजिए। सजा के अंत तक वह पच्चीस कोड़े भी खा चुका होता है और पूरी पच्चीस मिर्चियां भी। सब हंसते हैं... स्याला उल्लू का पट्ठा।

यहीं पर कथाकार हमारा पक्ष रखता है...खंगालकर देखें अपनी जिंदगी के गुजरे हुए वर्ष? हम क्या अलग-अलग दायरों में जिंदगी भर नहीं झूलते रहे। दोनों ओर की यातनाएं झेलते हुए? यहीं वे उस कथा का भी जिक्र करते है जिस पर महिला निर्देशक सई-परांजये ने फिल्म बनाई... एक था खरगोश, धूर्त और तेज और एक था कछुआ, मेहनती और सीधा-साधा, कथा के अनुसार कछुआ जीतता है पर जिंदगी में ऐसा नहीं होता...।

नरेंद्र नागदेव की कहानियां संग्रह के ब्लर्ब पर लिखी इबारत की पुष्टि करती है कि नागदेव की कहानियां वर्तमान और अतीत, कल्पना और यथार्थ, सही और गलत तथा मन के अंधेरों और उजालों के बीच झूलती हुई सी चलती है। नरेंद्र नागदेव की कहानियों का केनवास बहुत बड़ा है वे आदमी के भीतर और जिन परिस्थितियों से वह घिरा है दोनों का अंकन करते हैं। अब 'ताला खुल गया है' कहानी को ही लें, यह कहानी मैनेजमेंट और यूनियन की रस्सा-कसी की कहानी है। तालाबंदी, हड़ताल की आड़ में क्या-क्या बातें होती हैं, यह तो इस कहानी में है पर मानवीय संबंधों की ऊष्मा भी यह कहानी कहती है, इन संबंधों की बुनावट इतनी महीन होती है कि प्रथम दृष्टया इन्हें नहीं समझ सकते पर जब इसमें रम जाते हैं, कथाकार के साथ हो लेते हैं तो संबंधों का ताप महसूस कर सकते हैं, ये कहानियां मानवीय गरिमा को बनाए रखती हैं, सारी जद्दोजहद इस गरिमा को बचाए रखने में लगा देती हैं। नरेंद्र नागदेव का यह उल्लेखनीय संग्रह है जिसकी हर कहानी अपने आप में खास है, खास शिल्प लिए हुए। अतीत से वर्तमान की आवाजाही करती नरेंद्र नागदेव की कहानियां हमारे वक्त की नब्ज पर उंगली रखती समकालीन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है।

दलित कविता की वैचारिकी

प्रेम प्रभाकर

साहित्यकार

संपर्क :
पी-18, प्रोफेसर्स क्वाटर
विश्वविद्यालय आवासीय परिसर
लालबाग सराय,
भागलपुर-812000
(बिहार)

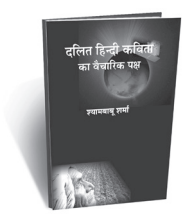

पुस्तक:
दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष
लेखक:
श्यामबाबू शर्मा
प्रकाशक:
अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 200
मूल्य: ₹ 200

श्यामबाबू शर्मा की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष' एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। एकादश निबंधों वाली इस पुस्तक की विशेषता है कि ये सभी निबंध आपस में जुड़े हुए हैं-अध्यायों की तरह। हर निबंध स्वतंत्र चरित्र का है और संयुक्त चरित्र का प्रतिपादन करता है। दलित कविता पर बहुत कम विचार हुआ है। दलित कविता के वैचारिक पक्ष पर अपनी धारदार कलम चलाते हुए लेखक इस कमी को पूरा करता है। दलित विमर्श के काव्यात्मक रूपांतरण को एकादश निबंधों में गुंथा गया है, जो पुस्तक के अध्याय के रूप में संयुक्त और आलेख के रूप में मुक्त-दोनों हैं। 'दलित विमर्श : अनछुए पहलू', 'मानव मुक्ति की आकांक्षा का साहित्य और आधार भूमि', 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का रचना संसार', 'अंतहीन नस्लीय समस्या', 'राजनीतिक अधःपतन और दलित काव्य चिंतन', 'बाजार की मृगमरीचिकाः वंचित जन', 'दलित स्त्री का अरण्य रोदन', 'पहाड़ तुम कब बदलोगे', 'दलित अभिजत्यता का समाजशास्त्र', 'अर्थयुग-अर्थहीन विश्व बंधुत्व' और 'दलित काव्य का यथार्थ'। श्यामबाबू ने आलोचकीय और पत्रकारीय दोनों भाषाओं में अपना मत-अभिमत प्रस्तुत किया है।

श्यामबाबू शर्मा की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष' एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। एकादश निबंधों वाली इस पुस्तक की विशेषता है कि ये सभी निबंध आपस में जुड़े हुए हैं-अध्यायों की तरह। हर निबंध स्वतंत्र चरित्र का है और संयुक्त चरित्र का प्रतिपादन करता है। दलित कविता पर बहुत कम विचार हुआ है। दलित कविता के वैचारिक पक्ष पर अपनी धारदार कलम चलाते हुए लेखक इस कमी को पूरा करता है। दलित विमर्श के काव्यात्मक रूपांतरण को एकादश निबंधों में गुंथा गया है, जो पुस्तक के अध्याय के रूप में संयुक्त और आलेख के रूप में मुक्त-दोनों हैं। 'दलित विमर्श : अनछुए पहलू', 'मानव मुक्ति की आकांक्षा का साहित्य और आधार भूमि', 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का रचना संसार', 'अंतहीन नस्लीय समस्या', 'राजनीतिक अधःपतन और दलित काव्य चिंतन', 'बाजार की मृगमरीचिकाः वंचित जन', 'दलित स्त्री का अरण्य रोदन', 'पहाड़ तुम कब बदलोगे', 'दलित अभिजत्यता का समाजशास्त्र', 'अर्थयुग-अर्थहीन विश्व बंधुत्व' और 'दलित काव्य का यथार्थ'। श्यामबाबू ने आलोचकीय और पत्रकारीय दोनों भाषाओं में अपना मत-अभिमत प्रस्तुत किया है।

'दलित विमर्श : अनछुए पहलू' में आलोचक शर्मा से दृष्टिबोध को समझने में सहूलियत मिली। सरहपा द्वारा ब्राह्मण कर्मकांड, जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवाद की तीखी आलोचना की गई थी। स्वयं बुद्ध और महावीर ने भी ब्राह्मण धर्म की आलोचना की है, हां उन्होंने यह काम दलित पैरोकारी में नहीं किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सरस्वती, हीरा डोम और डॉ. रामविलास शर्मा के कथन को उद्धृत किया गया है। पुस्तक का दूसरा आलेख है- 'मानव मुक्ति की आकांक्षा का साहित्य-आधार भूमि'। डॉ. शर्मा का मानना है, 'मजलूमों, असहायों, वंचितों, शोषितों-हाशिएकृत वर्ग की बात उनकी भाषा में करना और उन्हीं के द्वारा उठाना मात्र दलितों को ही नहीं बल्कि शोषित-दलित संपूर्ण मानवजाति के कल्याणार्थ रचे जाने के कारण वांगमय आज मानव मुक्ति का साहित्य हो चुका है।' (दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष, श्यामबाबू शर्मा, पृ. 27)

सुशीला टाकभौरे की एक कविता से इसकी पुष्टि की गई है। दलित अछूत ढूंढ रहे थे/पीड़ाओं से मुक्ति का मार्ग/अंधेरे में आशा का प्रकाश/जिससे विश्वास कर सकें/दुनिया उनकी भी है/उन्हें भी जीने का हक है। (वही पृ. 38)

इस मामले में ओमप्रकाश वाल्मीकि यथार्थ के अधिक करीब लगते हैं। वे भाववादी अंदाज में नहीं बल्कि सवाल उठाते हुए कहते हैं- खुल गई हैं खिड़कियां/आने लगी है ताजी हवा/युगों-युगों की घुटन/अब घट रही है/हम अभागे नहीं हैं/हमारा भी हक, हिस्सा है (वही पृ.)।

'अंतहीन नस्लीय समस्या' में लेखक दलित समाज को नस्लीय भावना का शिकार मानता है जबकि डॉ. अंबेडकर मानते थे कि सवर्ण और अवर्ण दोनों दो नस्ल के नहीं हैं। यूं आजकल एक तथाकथित आनुवांशिक शोध के आधार पर कहा जा रहा है कि द्विज और वैश्य यूरेशाई जातियां हैं, किंतु इस शोध की प्रामाणिकता संदिग्ध है। ऐसे में यह मानना कि सवर्ण लेखक नस्लीय भावना से ग्रस्त होकर अवर्णों को देखते हैं, उचित नहीं लगता। हां आज भी वे अवर्णों के प्रति भेदभाव करते हैं। इसका मुख्य कारण शोषण को बदस्तूर जारी रखने की मानसिकता है ताकि शूद्र या निम्न जातियों को दबाकर सुख लूटा जा सके। इसके बावजूद श्यामबाबू यदि सवर्ण लेखकों को नस्लीय नफरत की मानसिकता को

बताना चाहें तो बात अलग है। इस संदर्भ में सुखबीर सिंह की एक कविता का अंश प्रस्तुत किया गया है-'मरने तक भी वे/अछूत रहे चलते हैं/अलग-अलग जमीन पर जीते हुए/मरने के बाद भी/अलग-अलग जमीन पर ही जलते हैं/ वसुधैव कुटुंबकम के नारे की असलियत की आंच/यहां पर सांस लेती है वह कुत्ता संस्कृति/ जो आदमी से काटती है बांटती है/धन, धरती और रिश्तों को/गैर बराबरी के साथ/भौंकती है अपने नस्ल पर/और दूसरों के तलुए चाटती है।'(पृ. 57-58)

भारत में हूण आए, शक आए, तुर्क आए, मंगोल आए किंतु अंग्रेजों को छोड़कर सब के सब भारतीय संस्कृति में रच-बस गए। इसमें इस्लाम धर्मावलंबियों को छोड़कर बाकी सभी वर्ण चतुष्टय में सम्मिलित हो गए या कर लिए गए। ऐसे में प्रत्यक्षतः तो नस्लीय विभाजन हिंदू समाज में नहीं दीखता किंतु व्यावहारिक तौर पर आज पिछड़ों-दलितों के प्रति द्विज वर्ग का नजरिया नस्लवादियों की तरह कठोर जरूर रहा है। रजनी कोठारी ने ठीक ही कहा है-''भारत में जाति के संदर्भ में रंगभेदी प्रवृत्तियां लोगों के व्यावहारिक चिंतन और रोजमर्रा के सामाजिक कार्य-व्यापार में देखी जा सकती हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से द्विज जातियां अपने आपको श्वेतांगों की तरह ही मानती हैं। वैसे तो भारतीय मानस में शास्त्रोक्त रूप में भी कई जगह वर्णों को त्वचा के रंगों का पर्याय समझा जाता रहा है। व्यावहारिक रूप में त्वचा के रंग मिश्रित जरूर हो गए हैं लेकिन दिमागों में गोरे रंग की श्रेष्ठता की मनोग्रंथि अभी भी कायम है।'' (आधुनिकता के आईने में दलित, अभय कुमार दुबे, पृ. 395)

इन तथ्यों से दलित रचनाकार पूरी तरह वाकिफ हैं। इसलिए इस जाति प्रथा को जयप्रकाश लीलवान जैसे कवि अपनी कविता में कथित धमार्धारित उत्पीड़न व्यवस्था की मुखालफत करते हैं-'जाति प्रथा/जिस समाज का/जिया जा रहा आदर्श/तो जाहिर है कि वहां/वेद-पुराण जैसे/कुत्तों की सलामती के/इंतजाम करने में ही/ शासन और समाज के बाघ/टूटकर ढेर हो जाते रहेंगे।' (पृ. 65)

हिंदी दलित कविता का एक स्वर राजनीतिक अधःपतन को रेखांकित करना भी रहा है। यही कारण है कि श्यामबाबू ने अपने पांचवें आलेख 'राजनीतिक अधःपतन और दलित चिंतन पर गंभीरता से विचार किया है। भारत की जनता के लिए भारतीय संविधान में समता, समानता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, भाईचारे को देश के कर्णधारों ने नकार दिया। कथन में जरूर इसका पाठ होता रहा परंतु व्यवहार में ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद के गठजोड़ के आधार पर सत्ता व्यवस्था बनाई जाने लगी। डॉ. अंबेडकर को इसकी आशंका थी इसलिए उन्होंने कहा था- जीवन सिद्धांतों में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की मान्यता से रहित राजनीतिक व्यवस्था एक

'दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष' पुस्तक एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आलोचक ने अपने आलोचकीय दायित्व का सफल निर्वहन किया है। पुस्तक में तटस्थ विवेचन की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। कुछ आग्रही दलितवादियों को यह तटस्थता खटक सकती है किंतु आलोचकीय दृष्टि से ऐसा किया जाना श्रेष्ठता का नमूना हुआ करता है। इसके लिए डॉ. श्यामबाबू बधाई के पात्र हैं।

तरह का राजनीतिक कदाचार है। राजनीतिक स्खलन पर मोहनदास नैमिशराय टिप्पणी करते हैं-''चुनाव के दिन/वे सभी एक हो जाते/जैसे किसी युद्ध के मैदान में/जीतने/समेटने/भोगने को आतुर/दूसरी ओर मूक/गरीब/दलित/आदिवासी होते/विवाह के इंतजार में बुढ़ाती लड़कियों जैसे/लोकतंत्र को सीने से चिपकाए/मत से सम्मत का रिश्ता जोड़ते।'' (पृ. 76)

भारतीय राजनीति में दलितों की दशा उतनी नहीं सुधरी जितनी अपेक्षित थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि इसका कड़ा प्रतिवाद करते हैं-रहे बेखबर/उस दुश्मन से/जिसकी सेवा-टहल में खप गयीं पीढ़ियां/बिक गईं भूखी नंगी/मर गयी बेमौत/बेनाम चीर-परिचित गलियों में/जन्म लेने भर की/इतनी बड़ी सजा/आखिर कुछ तो सोचा होता।' (पृ. 81)

मनुष्य पर बाजार हावी होता जा रहा है। पहले मनुष्य की आवश्यकता के लिए बाजार हुआ करता था परंतु अब बाजार अपने प्रसार हेतु मनुष्य का मानस तैयार कर रहा है। मोहक विज्ञापनों के जरिए मनुष्य को फांसा जा रहा है। बाजार मरुस्थल की मृग मरीचिका की तरह है जो भ्रम के सिवाय कुछ नहीं है। वंचित जन बाजार की व्यावसायिकता में फंसता चला जा रहा है। यही कारण है कि आलोच्य पुस्तक का छठा खंड है- 'बाजार की मृग मरीचिका वंचित जन'। 'बेहतर कल की प्रत्याशा में आदमी ग्लोबल संस्कृति और आचार संहिता का हिमायती बनता जा रहा है। विश्वव्यापी बाजारीकरण ने इनसान को बाजार का एक पुर्जा बना दिया है। राष्ट्र परजीवी और कमजोर होकर सहज प्राप्य वस्तुओं के लिए भी दूसरों का मुंह जोह रहे हैं। बाजारू संस्कृति हमारे चरित्र और चिंतन दोनों को स्खलित करती है। चिंतन भोगवाद की ओर तथा चरित्र ऐंद्रिक इच्छाओं को तृप्त करने की ओर उन्मुख है।' (पृ. 95)

दलित कवि इस प्रकार की वास्तविकताओं से बेखबर है। जयप्रकाश लीलवान लिखते हैं- बाजार के समुद्र की/व्हेल मछलियों के/नृत्य पर/ आज का समय/धर्म और धनाधीशों के वैचारिक कंकालों के/खुश होने के/नजारा देखता है। (पृ. 97)

आलोच्य पुस्तक का सातवां अध्याय 'दलित स्त्री का अरण्य रोदन' है। यूं तो संपूर्ण समाज में ही स्त्री दोयम दर्जे में जीती है, किंतु दलित स्त्री दोहरे मार की शिकार होती है। 'दलित स्त्री भारतीय संस्कृति की भयानक दुर्घटना है। यह कोई प्राकृतिक अस्तित्व नहीं, शुद्ध रूप से क्रमशः गुलामी की मनःस्थिति में जकड़ते-ढलते चले जाने की चेतना शून्य परिणति है। शरीर से यह स्त्री कहे जाने के बावजूद नारी होने के अहसास से वंचित है। दशा यह कि एक तो औरत दूसरे उसके संबोधन- चमारिन काकी, डोमिन अजिया, पासिनि मौसी, धोबिन भौजी से। यानि संबोधन ही घृणापूर्ण हिकारत और अपमान से आच्छादित।' (पृ. 113)

दलित कवयित्री अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगी है। उनमें मानवीय गरिमा को प्राप्त करने की अदम्य लालसा दिखाई पड़ती है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं- आज रोम-रोम से ध्वनि गुंजती है/पोर-पोर से पांव फूटते हैं/प्रचलित परिपाटी से हटकर/मैं मांगती हूं सब और एक साथ/मुझे अनंत असीम दिगंत चाहिए/मुझे अनंत आसमान चाहिए। (पृ. 124)

दलित स्त्री अपने जीवन की वास्तविकता को सुनहरे नारों से नहीं भूलना चाहती। वह बार-बार अपने अधिकारों के लिए कृतसंकल्पित है। पूनम तुषामण इस भाव को अपनी कविता में बांधती हैं- तब वह शायद/अपने आप से हर बार/एक ही प्रश्न करती है/क्या यही है मेरा जीवन?/तब सरकार के सारे दावे/जर्जर और खोखले हो/ढह

दलित कवियों ने दलितों के बीच पनपते नव ब्राह्मणवाद को बड़ी गहराई से परखा है और लोंगों को सचेत करने के लिए उसे अपनी कविता का उपजीव्य बनाया है। 'आज भी ब्राह्मण के घर जन्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय के घर क्षत्रिय, वैश्य के घर वैश्य और शूद्रों के घर शूद्र पैदा होते हैं। ये चार वर्ण ही होते तो शायद समस्या इतनी गंभीर न होती परंतु ब्राह्मण सिर्फ ब्राह्मण है, क्षत्रिय सिर्फ क्षत्रिय और वैश्य भी हर हाल में वैश्य है, परंतु शूद्रों की हजारों जातियां हैं। इनमें अवांतरीय वर्ण क्रम की खतरनाक सीढ़ी है। डोम पासी को नीच मानता है और पासी कोरी को, कुर्मी काछी के यहां कच्ची नहीं खाता और काछी कुर्मी से भोज-भात नहीं रखता।

जाते हैं/और हम/सारी राज्य व्यवस्था को/मैले के ढेर सा पाते हैं। (मां मुझे मत दो, पूनम तुषामण, पृ. 64)

आठवें अध्याय का शीर्षक 'पहाड़ तुम कब बदलोगे' शोषक शक्ति को पहाड़ से निरूपित करना प्रतिरोधी ताकत को कम आंकना माना जा सकता है, जो कि है नहीं। उच्च वर्ग अपनी विलासिता में डूबा हुआ है। यह दलितों को अवमानना और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। सचेत कवि जयप्रकाश कर्दम इस प्रकार की सामंतवादी प्रवृत्ति का तीव्र विरोध करते हुए लिखते हैं- छीना है/मेरे मुंह का ग्रास/नोचते आए हैं मुझे/भूखे बाज की मानिंद/अपने नुकीले पंजों से/डकारते आए हैं/मेरा मांस/यदि रहा मेरे/दमन और शोषण का हाल तो/आज नहीं तो कल/हरकत में जरूर आएंगे/मेरे हाथ।

(गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ. 16)

दलित कवि अपने बीच के अंतर्विरोध को भी प्रकट करने से नहीं चूकते। ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे सजग रचनाकार लिखते हैं- मेरे अंतस की गुफा में/बंद पड़े हैं असंख्य बालि/जो बाहर आएंगे किसी दिन/अवरोधक हटाकर/बालि जागेगा/तो कांपेगी किष्किंधा/जहां द्वार पर खड़ा है अंगद/पालतू कुत्ता बनकर।

(अब और नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 23)

कुल मिलाकर इस अध्याय में कथित उच्च वर्ग रूपी पहाड़ को चकनाचूर करने वाली कविताओं की ओर लेखक का ध्यान गया है। कविताओं के इस गंभीर विश्लेषण की सराहना की जानी चाहिए।

'दलित अभिजात्यता का समाजशास्त्र पुस्तक का नवां निबंध है। इसमें काफी गहराई से दलितों के अंदर पनपते ब्राह्मणवाद यानी अभिजात्यता को रेखांकित किया गया है। ब्राह्मण धर्म में वर्ण एवं जातियों की अवरोही क्रम की श्रेणीबद्धता है। इनमें से सभी जातियां अपने को दूसरी जातियों से श्रेष्ठ समझने का भ्रम पालती हैं। 'अपने से नीचे की तलाश और स्वजाति की श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिशें। हिंदू वर्ण व्यवस्था में पिछड़ी और अस्पृश्य कही जाने वाली जातियां - कोली, कुर्मी, कहार, चमार, जाटव, भंगी, दुसाध आपस में कटे-कटे और कच्ची-पक्की की प्राचीरों में ब्राह्मणीय अभिजात्यता के शिकार हैं। (पृ. 153)

इस संदर्भ में पंद्रहवीं शताब्दी के संत कवि रविदास की पंक्तियां हमें समता की ओर उन्मुख करती हैं-

चाहूं ऐसा राज मैं जहां मिले सबन को अन्न।
छोट-बड़ो सब सम होंगे रैदास रहे प्रसन्न ।।

बाद के दिनों में यह धारणा एकदम मिटा दी गई। आज का दलित समाज जितना ऊंची जातियों से प्रताड़ित है, उतना अपनों से भी। दलित कवि सूरजपाल चौहान ने इस हकीकत को अपनी कविता में इस प्रकार चित्रित किया है- मीटर लंबा तिलक भाल पर/सुतली डोर गले डाले/हाथ कलावा बांधे फिरता/मटरू का पोता काले/ इसके आगे शरमाता अब/पंडित रामचरन है/भीमराव का दलित नहीं यह/गांधीजी का हरिजन है। (कब होगी वह भोर, सूरजपाल चैहान, पृ. 35)

इन्हीं की एक अन्य कविता है- डोरीलाल इसी बस्ती का/कोटे से अफसर बन बैठा/उसको इनकी क्या पड़ी अब/वह दूजों में जा बैठा/बेटा पढ़-लिखकर शमार्जी/बेटी बनी अवस्थी है/यह दलितों की बस्ती है।

(क्यों विश्वास करूं, सूरजपाल चैहान, पृ. 48)

वस्तुतः दलित कवियों ने दलितों के बीच पनपते नव ब्राह्मणवाद को बड़ी गहराई से परखा है और लोंगों को सचेत करने के लिए उसे अपनी कविता का उपजीव्य बनाया है। 'आज भी ब्राह्मण के घर जन्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय के घर क्षत्रिय, वैश्य के घर वैश्य और शूद्रों के घर शूद्र पैदा होते हैं। ये चार वर्ण ही होते तो शायद समस्या इतनी गंभीर न होती परंतु ब्राह्मण सिर्फ ब्राह्मण है, क्षत्रिय सिर्फ क्षत्रिय और वैश्य भी हर हाल में वैश्य है, परंतु शूद्रों की हजारों जातियां हैं। इनमें अवांतरीय वर्ण क्रम की खतरनाक सीढ़ी है। डोम पासी को नीच मानता है और पासी कोरी को, कुर्मी काछी के यहां कच्ची नहीं खाता और काछी कुर्मी से भोज-भात नहीं रखता। (पृ. 161)

पुस्तक के दो अंतिम निबंध हैं-'अर्थयुग-अर्थहीन विश्वबंधुत्व' और 'दलित काव्य का यथार्थ'। इन दोनों निबंधों में दलित कविता के ओजस्वी स्वर को पकड़ने का प्रयास किया गया है। विश्वबंधुत्व के नकलीपन को आलोचक ने उधेड़कर रख दिया है। इसके अतिरिक्त दलित काव्य के यथार्थ को बिना किसी पूर्वाग्रह और अंध पक्षधरता के आधार पर निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

बकौल आलोचक, 'कविता स्मृति के अनुसृजन और आकांक्षित भविष्य की अभिव्यक्ति है। दलित काव्य उन प्रस्थापनाओं की व्याख्या करता है जो मानव विरोधी हैं। अंधश्रद्धा, आस्था की जगह गहन विश्लेषण और उसके विकास की सही दिशाओं, ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक नियमों का अन्वेषण करने की दिशा में दलित कविता सन्नद्ध है।' (पृ. 166)

दलित कविता पाठक से सीधा संवाद है। कवि मलखान सिंह ने ठीक ही लिखा है-'मेहनतकश हाथ में/सब तंत्र होगा/मंच होगा/बाजुओं में दिग्विजय का जोश होगा/विश्व का आंगन/वृहद आंगन/हमारा घर बनेगा/हर अपरिचित पांव भी/अपना लगेगा।' (दलित निर्वाचित कविताएं, कंवल भारती, पृ. 52)

पुस्तक के अंतिम निबंध 'दलित काव्य का यथार्थ' में दलित कविता लेखन की गहरी पड़ताल की गई है। हिंदुओं की सामाजिक वास्तविकता को जस के तस रखने का प्रयास किया गया है। ब्राह्मणी सभ्यता ने दलितों को सत्ता व्यवस्था की मुख्यधारा में आने नहीं दिया। इस बात की साफ समझ दलितों को है। अत्याचार की प्रतिक्रिया में ही सृजन के कंगूरे गढे जाते हैं। दर्दों की पांडुलिपियां अब सामने आ रही हैं- 'दलितों के दर्दों की पांडुलिपियां/हमारे समय/और दुनिया के/सबसे जरूरी/और सर्वोच्च सपनों की/सुरक्षा के समान है/जिन्हें सम्मान के साथ/संजोए रखना/और संजोकर चलना/भविष्य के पथ की/अपनी विजय/पक्की करने के लिए/सबसे अनिवार्य होगा।' (पृ. 186-87)

कुल मिलाकर 'दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष' पुस्तक एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आलोचक ने अपने आलोचकीय दायित्व का सफल निर्वहन किया है। पुस्तक में तटस्थ विवेचन की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। कुछ आग्रही दलितवादियों को यह तटस्थता खटक सकती है किंतु आलोचकीय दृष्टि से ऐसा किया जाना श्रेष्ठता का नमूना हुआ करता है। इसके लिए डॉ. श्यामबाबू बधाई के पात्र हैं।

कहानी

संघर्ष और संवेदना की कहानियां

रामयतन यादव

कथाकार

संपर्क :
ग्राम - मकसदपुर, पोस्ट-फतुहा, जिला-पटना, बिहार

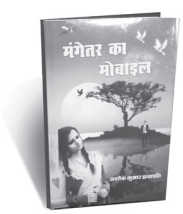

पुस्तक:
मंगेतर का मोबाइल
लेखक:
अशोक कुमार प्रजापति
प्रकाशक:
वातायन मीडिया एवं पब्लिकेशन, पटना
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 216
मूल्य: ₹ 250

निरंतर बदले मूल्यों और संदर्भों के साथ आभा लिए स्थितियों को चित्रित करते हुए हिंदी कथा सृजन को समृद्ध करने में अशोक प्रजापति के योगदान को रेखांकित किया जाना आवश्यक है। ये सहज चेतना के संवेदनशील कथाकार हैं। इन्होंने विचार संधर्ष और संवेदना के स्तर पर स्वयं को समृद्ध किया है। कथा सृजन के वर्तमान परिवेश में बहुत ही आश्चर्यजनक तरीके से प्रजापति अपनी पहचान कायम कर रहे हैं। इस कथाकार की कहानियों को पढकर सहज ही इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इनके भीतर समकालीन सामाजिक चेतना के आरोह-अवरोह से उत्पन्न स्थितियों और चुनौतियों को रचनात्मक तरीके से देखने का कितना प्रभावकारी दृष्टिकोण मौजूद है। कल्पना और यथार्थ का जीवंत चित्रण कहीं गहरे तक संस्पर्श करता है।

सद्यः प्रकाशित 'मंगेतर का मोबाइल' अशोक प्रजापति की दूसरी कथाकृति है। इसके पूर्व 'ओपेरा हाउस' के जरिए इनकी कई श्रेष्ठ कहानियां आ चुकी हैं। 'मंगेतर का मोबाइल' इनकी कथात्मक अभिव्यक्ति की विकास प्रक्रिया के तौर पर देखा जा सकता है। ऐसा इसलिए कि इसमें भाषा और विचार की समृद्धि को पूर्व की कथाकृति की अपेक्षा अधिक विस्तार मिला है। गांव-गिराम से लेकर महानगरीय संस्कृति और संस्कारों में जो भी उतार-चढ़ाव हुआ है या फिर हो रहा है, उन्हें खूब बारीकी से अभिव्यक्त किया है। अशोक प्रजापति का कथा सृजन इस अवधारणा को संपुष्ट करता है कि जो रचनाकार आम आदमी की अनुभूति के संस्कृति और अभिव्यक्ति के रूप प्रकारों से जितनी गहराई से जुड़ा होगा उसकी रचना उतनी ही स्वाभाविक, जीवंत और संप्रेषणीय होगी।

विषय वैविध्य के साथ अशोक प्रजापति के सामाजिक सरोकार सघन किंतु सहज है। कथा साहित्य सृजित करने की दृष्टि से समीक्ष्य संग्रह की कहानियां उदाहरण के तौर पर रखी जा सकती है, उनमें 'दीमक लगे गांव', 'कानन कस्बे की चींखें', 'कर्ज के दस रुपए', 'आर-पार'। 'अपने-अपने स्वर्ग' कुछ वर्ष पूर्व केदार घाटी में घटित अत्यंत दुखद दुर्घटना पर केंद्रित मार्मिक कहानी है। भीषण प्राकृतिक आपदा का जीवंत दृश्य गहरे तक हिलाकर रख देता है।

समाज के चेहरे पर बदनूमा दाग की तरह यहां-वहां उगे 'रेड-लाइट एरिया' में जिस्मफरोशी के लिए विवश स्त्रियों की दर्दभरी जिंदगी का ऐसा करुण दृश्य इस कहानी में उपस्थित किया गया है कि मन उद्वेलित हो उठता है। वेश्यावृत्ति की गलीज जिंदगी के बीच से बेला अपनी बेटी को पढ़ा-लिखा कर बेहतर सामाजिक जिंदगी की ऊंचाईयों तक पहुंचाने में कामयाब होती है। वेश्या जीवन पर अनेक कथाकारों ने कहानियां लिखी हैं लेकिन अशोक प्रजापति की यह कहानी 'कानन कस्बे की चीखें', जीवनोन्मुखी संघर्ष से ओत-प्रोत अत्यंत ही प्रेरक एवं सकारात्मक है।

श्री प्रजापति की रचनाशीलता की खासियत है कि तमाम सामाजिक विसंगतियों, विरोधाभाषों और विद्रूपताओं के बीच भी जीवन की ऊर्जा क्षरित होने नहीं देते हैं। एक स्वस्थ समाज

अशोक कुमार प्रजापति की किताब 'मंगेतर का मोबाइल' आधुनिक जीवनधारा की किंचित विडंबनापूर्ण स्थिति की कहानी है। 'ग्लोबल विलेज' की विद्रूपताओं को समेटे हुए एक खास किस्म की बेचैनी पैदा करने में यह कहानी सक्षम है।

निर्माण की चेतना को संघर्ष की धार देते हुए जीवन के प्रति गहरी आस्था और विश्वास को ठोस आधार प्रदान करते हैं। 'आर-पार' के जरिए गांवों में सामंती जीवन मूल्यों के टूटने कमजोर पड़ते जाने और नए जीवन मूल्यों की स्थापना के क्रमिक विकास को तथ्यात्मक ढंग से रखा गया है।

'कर्ज के दस रुपए' और 'जामुन का पेड़' ग्रामीण पृष्ठभूमि की बेहतरीन कहानियां हैं। ग्रामीण पृष्ठभूमि की जितनी भी कहानियां अशोक प्रजापति द्वारा लिखी गई हैं, उनमें गांव का ओढ़ा हुआ यथार्थ नहीं बल्कि जिया हुआ यथार्थ अपनी पूरी संवेदना के साथ उकेरते हैं। वे घर आंगन और खेत-खलिहान में उगी हुई दूब की तरह का अहसास दिलाती हैं।

'प्रथम स्पर्श' कहानी स्त्री जीवन के संघर्ष की जीवंतता के साथ उद्घाटित किया गया है। घनघोर गरीबी में पली-बढ़ी सुमन के जीवन संघर्ष और परिवार के प्रति समर्पण का भाव पाठकों को गहरे तक उत्प्रेरित करता है। कथ्य, शिल्प एवं भाषा के स्तर पर ऐसी जीवंत कहानियां कम ही पढ़ने को मिलती हैं।

'मंगेतर का मोबाइल' आधुनिक जीवनधारा की किंचित विडंबनापूर्ण स्थिति की कहानी है। 'ग्लोबल विलेज' की विद्रूपताओं को समेटे हुए एक खास किस्म की बेचैनी पैदा करने में यह कहानी सक्षम है। 'नीला मर्तबान' एक नन्हीं बच्ची नीलू के जरिए प्रदूषण जैसे ज्वलंत और वैश्विक मुद्दे को उकेरती एक सशक्त कहानी है। संपूर्णताओं में कहें तो कथा सृजन के सहारे अपने समय का इतिहास इनकी कहानियों में संरक्षित हुआ है।

कहानी

मानवीय संवेदनाओं का विस्तृत कोलाज

मधु सक्सेना

कथाकार

संपर्क :
द्वारा - निशांत सक्सेना
अविनाशी विला, 15/सी,
रविनगर, रायपुर-492001
(छ.ग.)

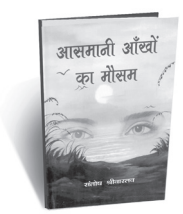

पुस्तक:
आसमानी आंखों का मौसम
लेखक:
संतोष श्रीवास्तव
प्रकाशक:
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2015
पृष्ठ: 208
मूल्य: ₹ 350

आसमानी आंखें दिल का आईना हैं मौसम को तो बदलना ही है। कभी सुख, कभी दुख, कभी पनीला, कभी रीता-रीता सा। कहानी संग्रह का नाम इसमें आई कहानियों से संबंध बनाता है। इस पुस्तक में कहानियों के माध्यम से जीवन की ऊंचाई को गहराई को और बदलाव को चित्रित किया गया है।

कहानियां पढ़ती गई, डूबती गई और पात्रों के साथ-साथ चलती गई। अब मैं कहानियों के बाहर नहीं रही, समाहित हो गई। मात्र पाठक नहीं एक पात्र हो गई। पहली कहानी 'सपना ठहरा सा' फिल्मी दुनिया की चकाचौंध और उसमें 'गुंजन' का प्यार कैमरामैन बृजेश के प्रति। लेकिन तब वह, आहत हो जाती है जब बृजेश कहता है- नहीं वे फिल्मी बहू नहीं चाहती फिल्मी दुनिया की हकीकत वे जानती हैं ''गुंजन जो इतनी प्रसिद्धि पा चुकी है, अचानक जैसे जमीन पर पटकी महसूस करती है... यानी बृजेश दूध का धुला है। गुंजन का अपने ऊपर वश नहीं रहता... जिसे प्यार का देवता समझकर दिल में बसाया था वह पत्थर निकला... एक आम सोच... आम समझ का। उसकी मुट्ठियां कसी और बृजेश के सीने, कंधे, पीठ पर बरसने लगीं। बृजेश ने एक जबरदस्त धक्के से खुद को बचाया और कुलदीप को आवाज दी''-सम्हालो इस पागल को। फिल्मी दुनिया की सच्चाई को उकेरती कहानी निश्चय ही पाठकों द्वारा पसंद की जाएगी, जो निरंतर फिल्मी दुनिया की चकाचौंध में जीते हैं, और सच्चाई यह है कि हमारे देश की लड़कियां बगैर हकीकत जाने इस ओर लगातार बढ़ रही हैं। लेखिका की यह कहानी नई पीढ़ी के लिए एक 'आवाज' है।

'चित्रों की जुबान' कहानी में प्रोफेसर जतिन का अनोखा प्रेम है। कहानी की नायिका चित्रकार है। जतिन ने सुजाता को उसके चित्रों के माध्यम से ही जाना है। सुजाता एक सफल चित्रकार है। उसके भीतर ऊर्जा है, जोश है और कुछ कर दिखाने का जज्बा भी। वह इसमें भरपूर कामयबी की ओर बढ़ रही है। उसका बचपन अभावों से ग्रस्त था लेकिन उसने अपने हौसलो से बुलंदियों को छुआ है।

लेकिन अचानक मानो उसकी जिंदगी में एक तूफान आ जाता है उसका जिस्म जैसे उसका साथ छोड़ने लगता है, बेहिसाब पीड़ा में भी वह सदा मुस्कुराती है। इस मुस्कुराहट में छिपा है जतिन का अनोखा प्रेम...उन दोनों के बीच दिल और इंसानियत का बड़ा गहरा रिश्ता है, तभी तो अपने छीजते जिस्म और अपाहिज होते हाथ पैरों के साथ वह जीवित है। वह जीना चाहती है। प्रेम का इतिहास रचती यह कहानी पठनीय है। इस कहानी को पढ़ते हुए पाठक प्रेम और दर्द के रिश्ते को अपने आस-पास महसूस करेगा।

पुस्तक का शीर्षक कहानी 'आसमानी आंखों का मौसम' एक ऐसी महिला की कहानी है जो सुंदर है समृद्ध है और प्रतिष्ठित लेखिका भी है। उसकी जिंदगी में उसको प्यार से सराबोर करने वाला पुरुष समीर प्रवेश करता है और वह तन-मन से उसपर समर्पित हो जाती है। शुरू में तो समीर का हिंसक रूप प्यार के रूप में उसके सामने आया तो वह समूची टूट गई...ऐसा प्यार जानवर जैसा। उसे प्यार करने का लम्हा उसे कोसने लगा, उसकी भावनाएं उसे धिक्कारने लगीं मेरे अहसास मुझ पर ठहाके लगाने लगे...ये कैसा प्यार था तुम्हारा समीर? मुझे लगा जैसी मेरी शक्ति निचुड़ गई है। एक चिंगारी मुझमें भड़की और उसने मुझे तपा दिया (पृ. 43)। और अचानक फिर समीर आ गया उसकी जिंद्गी में...और फिर प्यार का कोमल अहसास जगा वह बहमी गई एक नदी की तरह...न जाने कौन से समुद्र की तरफ जहां वह मिल जाना चाहती थी उस अथाह गहराई से... और संपूर्ण हो जाना चाहती थी। परंतु उसे नहीं मालूम था कि वह एक स्वार्थ और बेवफाई के जाल पूरी जिंदगी फंस चुकी है...ओह! समीर मेरी पूरी ज़िंदगी के मूल्य पर फिशिंग तो तुम कब की कर चुके हो।

संग्रह की चौथी कहानी 'गूंगी' है। लेखिका गूंगी के माध्यम से संपन्न घरों की महिलाएं जो पुरुष प्रधान समाज के खिलाफ बहरी गूंगी हो चुकी हैं कटाक्ष करती हैं-''सुबह मालकिन के शरीर पर उबटन लगाती गूंगी उसकी हथेली पर लिखती है कि वह तो गूंगी है इसलिए मामा मामी और सारे जमाने की लानत मलामत सहती रही। पर वे तो बोल सकती है, फिर क्यों छोटे मालिक (पति) की ज्यादतियां सहती हैं। क्यों नहीं उनसे कुछ कहतीं। 'अंकुश की बेटियां' कहानी बहुत मार्मिक कहानी है। जहां सांप्रदायिक दंगों से पूरा शहर झुलस रहा है। वहां कहानी का नायक अंकुश को फोन पर बताया जा रहा है कि उसकी पत्नी के गर्भ की रिपोर्ट आ चुकी है...लड़की है ट्विंस...अंकुश कहता है छुटकारा पाओ यार...कहां दो लड़कियों का हैडिक पालेंगे अर्थात् गर्भपात करवा लो। अंकुश पत्रकार है...दंगे के शहर में कैमरामैन के साथ रिपोर्टिंग करने गया है। दंगे में पीड़ित हिंदू-मुस्लिम जो वक्त की नजाकत देखकर जय श्री राम और अल्ला हो अकबर बोलते। किससे क्या पूछते वे पत्रकार कि कौन अपराधी है? तभी पेड़ के नीचे बैठी रो-रोकर बेहाल लड़की पर कैमरा फोकस होता है...नहीं मत मारो मुझे... छोड़ दो। अंकुश सहित सभी उसके नजदीक पहुंचते हैं तो उसके साथ क्या दरिंदगी हुई उसके गवाह उसके फटे-चिथे कपड़े हैं...और अंकुश का दिमाग भन्नाने लगता है...ऐसी दर्दनाक दास्तां बाबूजी अम्मा ने विभाजन के समय की सुनाई थी जब उसकी बुआ...यह वाकया उसकी बुआ के साथ हुआ था जिसे उसने कभी देखा तक नहीं था। जब वह याद करता था तो लगता था कि जैसे बुआ सामने हैं और उसके फटे-जले कपड़े पास ही पड़े हैं। लेखिका ने गुजरात के दंगों की सच्चाई इस कहानी में परत दर परत उधेरी है। अपनी पत्नी के वे जुड़वा कन्या भ्रूण और कन्या के साथ हो रहे वीभत्स हादसे उसकी नजरों के सामने किसी फिल्म की तरह सिंच जाते। आज के दंगों में वह रोती विलखती लड़की...और मां बाबूजी से सुनी अपनी बुआ के साथ हुए वहशीपन की कहानी...हर दंगा या युद्ध...औरत होने के जुर्म को सजा देता। नहीं चाहिए उसे लड़कियां...फोन पर

घूमती उंगलियां पत्नी नेह को आदेश देता सास्वर...तुम मां के साथ जाकर एवॉर्शन की डेट फिक्स कर लो। और फिर उन आंधियों को हवा लगी जो वह इन दिनों देख रहा था या सुन चुका था।

ये जांबाज पत्रकार दंगाग्रस्त इलाकों में तांडव करती मौतों के बीच जिंदगी तलाशते रहे। जो कुछ था सामने रोंगटे खड़े कर देने वाला था। गर्भवती महिला दंगाईयों से घिरी जिंदगी की भीख मांग रही है...मुझ पर नहीं तो मेरी कोख में पलते इस बच्चे पर दया करों छोड़ दो मुझे और देखते ही देखते उसकी कोख को फाड़कर तलवार की नोक पर अजन्मा बच्चा जन्म ले चुका था। रक्त से लिथड़ी उसके पैरों हाथों की नर्म गुलाबी कोवंल जैसी उंगलियां...हां। वे देख रहे थे उसका तड़पता जिस्म...तो क्या उसने हथियार लगने पर पुकारा होगा पापा को...मां को...अंकुश के कान सुन्न हो चुके थे। ऐसी ही उसकी बच्चियां होंगी निहारिका की कोख में जिसे मिटाने पर तुला है वा...? अंकुश रो पाड़ता है अपनी अजन्मी बच्चियों की सलामती के लिए।

एक आदर्श प्रस्तुत करती कहानी जो कन्या भ्रुण हत्या के खिलाफ एक सशक्त कहानी बने पड़ी है।

देश की शर्मनाक और बड़ी समस्याएं बलात्कार और बालिका भ्रूण हत्याओं पर लेखिका का हृदय विचलित दिखता है। जिसमें 'अंकुश की बेटियों' का जिक्र किया जा चुका है एवं 'हलाहल', 'लावा' कहानियां उस विचलन की ही देन है। कहानियों का आधार वास्तविकता ही होता है। अपने आसपास से ही बीनकर कहानियों को तराशा गया है। भावों की फहार पाठक को भिगोती रहती है। मन का गीलापन कहां सूख पाता है, समय का सूरज भी नाकाम रहता है।

कर्नल और सूबा की प्रेम कहानी समेट लेती है पूरी दुनिया को। प्रेम पर अगाध विश्वास जम जाता है। 'उस पार प्रिये तु हो' कहानी का शीर्षक बच्चन जी की कविता याद दिला देता है। इस पार प्रिये तुम हो मधु है, उस पार न जाने क्या होगा' प्रेम के लिए संघर्ष फिर प्रिय के बिछुड़ने की पीड़ा को लेखिका ने डूब कर उकेरा है और सैन्य जीवन को विस्तार से वर्णित किया है।

'शहतूत पक गए' कहानी स्त्री के एकाकीपन और उसके प्रेम की मौन भाषा की गवाह है। लेखिका ने प्रेम को डूब लिखा है। दिदिया के जीवन की कहानी मन को भिगोती है। कई चेहरे याद आ जाते हैं, कोई अविवाहित कोई विधवा...जिसने प्रेम के एक तार पर नट की तरह चल कर जिंदगी गुजार दी। प्रेम की जल जरंग स्त्री और पुरुष दोनों के मन में बजती है। कर्नल और दिदिया का प्रेम अधूरा होते हुए भी संपूर्ण था। दो अलग-अलग कहानी के छोर मिल ही जाते हैं। मिल नही तो प्रेम नहीं...प्रेम तो प्रेम है बस...जहां से शुरू वहीं पर आकर फिर रूक जाता है। भाषा और भावों के सुंदरतम संयोजन में पाठक डूब सकता है।

मृगमरीचिका की मौसी कहती है तो आंखों के सामने कोई मौसी, काकी, ताई या बुआ घूम जाती है जो इस बात का जीता जागता उदाहरण बन जाती हैं। बिट्टो एक बार बैंक जाकर लॉकर से जेवरों का डिब्बा लाकर दिखा दे...देख लूं क्या-क्या है? सबका हिस्सा निकाल दूं...जिंदगी का क्या भरोसा...।

लेखिका संतोष श्रीवास्तव के लेखन में सचमुच एक धार है जो मन का कोना-कोना छीलता है और इसीलिए उसका अहसास लंबे समय तक बना रहता है। निश्चय ही पाठकों के बीच लेखिका की ये सभी बीस कहानियां अपनी जगह बनाएंगी।

कहानियां कहीं से भी जन्म ले सकती हैं। पूरी पृथ्वी उसका आधार है। किसी भी देश के किसी भी कोने से सूत्र मिल जाता है और दूसरे कोने में उसका (सिरा) मानवीय संवेदनाएं कहीं भी जुड़ सकती हैं और दूसरे कोने में उसका दूसरा सिरा। 'नेफरटीटी की वापसी' ऐसी ही कहानी है। महाकुंभ में लेखिका भारतीय आध्यात्म की तह तक जा पहुंचती है और नायिका गुनाहगारों को क्षमा कर देती है। 'जो खौफ आंधी से खाते हो' मेरे होने का अर्थ 'सपना ठहरा सा' आदि कहानियों में नायिका जीतने की कोशिश में हारती चली जाती है। पर 'फीनिक्स' पक्षी की तरह अपनी ही राख से फिर जो उठती है। निर्णय तो लेना ही था धरती पर अपना मजबूत पांव तो रखना ही था और सांसो के लिए उधार की हवा नहीं चाहिए। अपने हिस्से की हवा से ही जिएगी वह। स्त्री के इस जज्बे को सलाम।

दिलकश शीर्षक सुंदर छपाई और आसमानी आंखों की छटा बिखेरता कवर पेज अच्छा बन पड़ा है। स्मृतियों का आकाश अनंत होता है। कभी रूई के हल्के बादल कभी भरे-भरे छलकते बादल अपने आपको समेटते, बिखरते बरसते बादल जीवन के ढंग से चल पड़ते है। कभी मन का कोना सूखा ही रह जाता है, कभी तृप्त सा तो कभी जलजले से आहत। इन सभी भावों की सिमटन है संतोष से श्रीवास्तव का ये कहानी संग्रह।

सभी कहानियां नायिका प्रधान है। स्त्री के मर्म को छूती हुई पाठक के मन में समा जाती हैं। कहीं-कहीं ये कहानियां टुकुर-टुकुर ताकती हुई न्याय की गुहार लगाती हैं। कभी अपने कर्तव्यों में अपने को पूरा खर्च कर देती हैं तो कहीं प्रेम की नई परिभाषाएं उकेरती नजर आती हैं। अहिस्ता अहिस्ता अपने को बिखेरती टूटती किरच-किरच होकर भी निराश नहीं होती और साहस का नया संसार समेटती, संभालती, गढ़ती नजर आती हैं। लेखिका की कहानियां दुख के सागर में डूबती उतरती नैया की पतवार थामे तूफानों से सामना करती लक्ष्य तक पहुंचती ही हैं। कहानियों के सभी तत्वों को बड़ी शिद्दत से अपने में समेटे जिंदगी के रहस्यों को उजागर करती नजर आती हैं। ये सिखाती है कि जिंदगी गुलाम की पंखड़ियों पर चलना नहीं है...कांटे पलको पर रखना होता है। हथेलियों पर अपनी ही जलाई आग लेकर चलना पड़ता है। इसकी जलन और घाव को ना तो किसी को दिखाने की इजाजत है ना उफ करने की और ना ही मलहम लगाने की। बस कर्म से जुड़े रहकर गीता के संदेश को चरितार्थ करना है। अपनी कहानियों में लेखिका ने सूत्र वाक्य गढ़े हैं-औरत की जिंदगी हर हाल में यातना भरी है। चाहें कितनी भी सुख सुविधाएं हो पर न जाने कहां से दुख छन्न से गिरता है और छोटे बड़े सुखों को अपने में समेट लेता है। लेखिका संतोष श्रीवास्तव के लेखन में सचमुच एक धार है जो मन का कोना-कोना छीलता है और इसीलिए उसका अहसास लंबे समय तक बना रहता है। निश्चय ही पाठकों के बीच लेखिका की ये सभी बीस कहानियां अपनी जगह बनाएंगी।

पेशेवर महिलाएंः बदलती पीढ़ी की अभिव्यक्ति

शरद जायसवाल

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर,
स्त्री अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

पुस्तक:
अनमोल बेटियांः पहली पीढ़ी की पेशेवर महिलाएं
लेखिका :
एलिस डब्ल्यू. क्लार्क
प्रकाशक:
सेज भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2016
पृष्ठः 183
मूल्यः ₹ 250

लेखिका एलिस डब्ल्यू. क्लार्क की पुस्तक अनमोल बेटियांः पहली पीढ़ी की पेशेवर महिलाएं के अनुवाद ने इसकी अंतर्वस्तु को काफी जटिल बना दिया है इसके साथ-साथ भाषा की त्रुटियां भी शोध की गंभीरता को कम कर रही हैं। फिर भी इस किताब में स्थापित तथ्यों के आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि आज के समय में महिलाओं का एक पेशेवर तबका अपनी आकांक्षाओं को खुलकर समाज के सामने अभिव्यक्त कर रहा है और अपेक्षा कर रहा है कि समाज भी उन सपनों को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़े। किताब का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें देश के अलग-अलग महानगरों में पेशेवर भूमिका में आ चुकी महिलाओं से साक्षात्कार लिए गए हैं। यह साक्षात्कार महिलाओं की चेतना में आ रहे बदलावों को परिलक्षित करते हैं।

भारतीय समाज में पिछले सत्तर सालों में स्त्री-पुरुष के बीच के संबंधों में काफी बदलाव आए हैं। इसे किसी न किसी अर्थ में भारतीय लोकतंत्र की उपलब्धियों में शुमार किया जा सकता है। लोकतांत्रिक मूल्य अब सिर्फ सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा नहीं है, इसकी अनुगुंज को निजी यानी परिवार के दायरे में भी सुना जा सकता है। इन सत्तर सालों में बहुत कुछ बदला है। देश, समाज, शहर, ग्रामीण भारत, परिवार, विवाह, धर्म, लोकतांत्रिक संस्थाएं, राजनीति और पितृसत्तात्मक ढांचे में इस बदलाव को आसानी से तलाशा जा सकता है। बेशक इस बदलाव ने महिलाओं के एक बड़े हिस्से को सजग किया है।

आजादी के बाद सार्वभौमिक मताधिकार, हिंदू कोड बिल आदि के माध्यम से भारतीय राज्य द्वारा महिलाओं को बराबरी का अहसास कराया गया. इसके साथ ही साथ समाज के एक हिस्से में बेटियों को लेकर परंपरागत धारणा में बदलाव आना शुरू हो गया था। आजादी के बाद चली औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने एक नए मध्यम वर्ग के लिए मार्ग प्रशस्त किया। 1980 के बाद शुरू हुई वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने बहुलतावादी भारतीय समाज के अलग-अलग तबकों को अलग-अलग तरह से प्रभावित किया है। जहां एक तरफ तो वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया ने समाज में वंचित तबकों के हाशियाकरण की प्रक्रिया को और मजबूत किया तो वहीं दूसरी तरफ महिलाओं के एक तबके की श्रमशक्ति के लिए बाजार ने अपने रास्ते खोले हैं।

पिछले तीन-चार दशकों में महिलाओं की एक नई पीढ़ी आत्मनिर्भर हुई है। यह नई पीढ़ी समाज में अपनी पेशेवर भूमिका के लिए सजग है। शिक्षा के अवसरों ने इस नई पीढ़ी की आकांक्षाओं को बदलने की दिशा में बड़ी भूमिका अदा की है। 2016 में एलिस डब्लू क्लार्क की पुस्तक 'वैल्यूड डाटर्स : फर्स्ट जेनरेशन कैरियर वीमेन' प्रकाशित हुई। किताब का हिंदी तजुर्मा 2017 में 'अनमोल बेटियां : पहली पीढ़ी की पेशेवर महिलाएं' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस किताब के शीर्षक से ही लेखिका किताब की अंतर्वस्तु के बारे में स्पष्ट कर देना चाहती है कि बेटियों को लेकर भारतीय समाज में जो परंपरागत सोच थी, उसमें बदलाव आ रहा है। समाज के एक तबके के लिए वे सिर्फ बेटियां नहीं हैं बल्कि वे भी एक लड़के की ही तरह अनमोल हैं। इस किताब में लेखिका ने महिलाओं की अलग-अलग पीढ़ियों की सोच व आकांक्षाओं में आ रहे बदलावों को समझने की ईमानदाराना कोशिश की है। इस किताब में महिलाओं की आकांक्षाओं में आ रहे बदलावों को समझने के लिए पुरानी पीढ़ी की महिलाओं के साथ-साथ महिलाओं की समकालीन पीढ़ी से भी बात-चीत की गई है। किताब का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें देश के अलग-अलग महानगरों में पेशेवर भूमिका में आ चुकी महिलाओं से साक्षात्कार लिए गए हैं। यह साक्षात्कार महिलाओं की चेतना में आ रहे बदलावों को परिलक्षित करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुए समाज सुधार आंदोलन ने महिलाओं से जुड़े मुद्दों को उठाने का काम किया था। सती प्रथा का विरोध, विधवा पुनर्विवाह के साथ महिलाओं की शिक्षा इस आंदोलन के केंद्र में थी। बीसवीं शताब्दी में गांधी के नेतृत्व में चले राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव में बड़े पैमाने पर पहली बार महिलाओं ने घर की दहलीज को पार किया था। आंदोलन में कई सारी महिलाओं का घर से बाहर निकलना और उनकी नेतृत्वकारी भूमिका ने महिलाओं की अगली पीढ़ियों को काफी प्रभावित किया था। लेखिका लिखती हैं कि महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में अपने परिवार की रजामंदी से भाग लिया था। न कि पुरुष प्रधान समाज में व्याप्त पुरुष वर्चस्व के खिलाफ... स्वतंत्रता संघर्ष की प्रतिध्वनि उन महिलाओं के बीच भी पहुंची जो राजनीतिक आंदोलन का भाग बनने के लिए बहुत 'छोटी' थीं। इस गुंज ने कुलीन परिवारों की कुछ युवा महिलाओं के मन में शिक्षित होने की इच्छा का रूप लिया। ताकि सार्वजनिक क्षेत्र

में उपयोगी कार्य करने के लिए सुसज्ज हो सकें... वे केवल राजनैतिक या सामाजिक सक्रियता में लिप्त होने के लिए नहीं, न ही निजी बनाम सार्वजनिक रोजगार तलाशने के लिए, बल्कि व्यापक रूप से कई क्षेत्रों में अपनी आदर्शवादी पेशेवर उम्मीदें पूरी करना चाहती थीं। उनकी यह इच्छाएं केवल नौकरी या आजीविका के लिए नहीं थीं। बल्कि सेवा, कार्य और आत्म अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए थीं। जो केवल घर बैठकर नहीं मिल सकती। ऐसी पूर्णता जिसके लिए उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उस शिक्षा को घर के दायरे से बाहर निकालकर अच्छे उपयोग में भी लाना था।

आजादी के बाद महिलाओं की एक नई पीढ़ी जब खुद मां बनी तो उन्हें यह लगा कि उनकी खुद की बेटियों के लिए महाविद्यालय की डिग्री प्राप्त करना विवाह के लिए एक बीमा पालिसी की तरह है। पुरुषों की शिक्षा में बढ़ोतरी का भी प्रभाव पड़ा क्योंकि शिक्षित पुरुष शिक्षित महिलाओं से ही विवाह करने की उम्मीद रखते थे। आजादी के बाद महिला आंदोलन की सक्रियता ने भी महिला शिक्षा और महिला सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। महिला आंदोलन की गति को तेज करने में 1974 में प्रकाशित 'टूवर्ड्स इक्व्यल्टी' नामक रिपोर्ट ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आज के समय में महिलाओं के बीच शिक्षा के प्रचार, प्रसार और कैरियर को लेकर आकांक्षाओं में आ रहे बदलावों के पीछे जनसांख्यिकी संक्रमण की बड़ी भूमिका रही है। महिलाओं के द्वारा कम बच्चों को जन्म देना, उनकी सेहत के लिए बेहतर है तथा इसके साथ बच रहे समय ने उनके द्वारा काम करने की संभावनाओं को भी बढ़ा दिया। लेखिका ने कहा है कि अतीत में महिलाओं के जीवन में जो बात स्पष्ट थी, वह यह कि वे अपने स्वास्थ्य पर बहुत बोझ डालती थीं और बहुत ही डरावने ढंग से खुद को वक्त से पहले ही मृत्यु के अधीन कर देती थीं। वे अपने जीवन के शिखर वर्षों के दौरान वांछित, अवांछित, जीवित, मृत बच्चों को जन्म देती थीं और दुर्भाग्यवश इस बोझ को खुद ही उठाती थीं।

धीरे-धीरे मेडिकल साइंस के विकास की वजह से बाल मृत्युदर में कमी आनी शुरू हुई। 1981 की जनगणना ने सबसे पहले प्रजनन क्षमता में गिरावट का संकेत दिया था। मृत्युदर में गिरावट का मुख्य श्रेय उन सभी आविष्कारों को जाता है जिनकी वजह से मलेरिया, तपेदिक, चेचक और हैजा जैसी बीमारियों पर नियंत्रण पा लिया गया था। इसके साथ-साथ महिला मृत्यु दर पर नियंत्रण ने भी महिलाओं की उम्र लंबी करने में मदद की। महिला शिक्षा में बढ़ोत्तरी के कारण विवाह योग्य आयु व लंबे समय तक अकेले रहने के अनुपात में बढ़ोत्तरी होती है। लेकिन लेखिका का यह मानना है कि भारत में प्रजनन क्षमता में संक्रमण मुख्य रूप से गर्भनिरोधकों के कारण और विशेष रूप से महिला नसबंदी के कारण हुआ है। इसके साथ-साथ यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि 1981 से 1991 के बीच प्रजनन क्षमता में हुई गिरावट का 65 फीसदी हिस्सा उन महिलाओं

2016 में एलिस डब्लू क्लार्क की पुस्तक 'वैल्यूड डाटर्स : फर्स्ट जेनरेशन कैरियर वीमेन' प्रकाशित हुई। किताब का हिंदी तजुर्मा 2017 में 'अनमोल बेटियां : पहली पीढ़ी की पेशेवर महिलाएं' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में लेखिका ने कई सारी पेशेवर लड़कियों के साक्षात्कार लिए हैं। इन साक्षात्कारों के माध्यम से उनकी आकांक्षाओं को समझा जा सकता है। शीर्षक से ही लेखिका किताब की अंतर्वस्तु के बारे में स्पष्ट कर देना चाहती है कि बेटियों को लेकर भारतीय समाज में जो परंपरागत सोच थी, उसमें बदलाव आ रहा है।

का है जिन्होंने कोई शिक्षा प्राप्त नहीं की है। इसके साथ-साथ परिवार में सिर्फ बेटों की चाहत से भी प्रजनन क्षमता में गिरावट आ सकती है। आज के समय में लिंग चयनात्मक गर्भपात को संभव बनाने वाली प्रौद्योगिकी व्यापक रूप से उपलब्ध होने लग गई है और अवांछित बेटियों से छुटकारा पाने के लिए लिंग चयनात्मक गर्भपात ने कन्या भ्रूण हत्या की पुरानी प्रथा को प्रतिस्थापित कर दिया है। इसके साथ ही कल्याणकारी राज्य के अभाव ने भी बुढ़ापे के समय लड़कों की जरूरत को और ज्यादा बढ़ा दिया है।

इस पुस्तक में लेखिका ने कई सारी पेशेवर लड़कियों के साक्षात्कार लिए हैं। इन साक्षात्कारों के माध्यम से उनकी आकांक्षाओं को समझा जा सकता है। जैसे इलाहाबाद की तनिका कहती हैं कि 'विवाह के लिए मैं किसी से मिलने के लिए बहुत लालायित नहीं हूं। मेरे माता-पिता एक अच्छे परिवार का, समान जाति-धर्म का अच्छा कमाने वाला लड़का चाहते हैं। मेरे विचार से वह स्वतंत्र और अच्छा व्यक्ति होना चाहिए और उसे मेरी भावनाओं का सम्मान करना चाहिए। महिलाओं को महसूस होता है कि उन्हें आर्थिक तौर पर भाग लेना चाहिए, हम निर्माण के लिए बने हैं न कि केवल प्रजनन के लिए। सतत विकास केवल पुरुषों के साथ नहीं हो सकता। देश तभी विकसित होगा जब महिलाएं भी श्रम शक्ति में भागीदारी करेंगी। विचारधारा और क्रांतिकारी आदर्शों में एक बदलाव आया है। हमें केवल उनके हाथ की कठपुतली नहीं होना है। बात केवल पैसे की नहीं है बल्कि व्यक्तिगत दृश्यता की भी है। हम अभी अदृश्य हैं। पुरुष और महिला को समान होना चाहिए। सारा जोर शिक्षा पर होना चाहिए।' इसी के साथ-साथ कई और युवा पेशेवर महिलाओं के साक्षात्कार में भी इसी तरह की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। लेखिका का मानना है कि यह बदलाव सिर्फ युवा महिलाओं में ही नहीं आए हैं बल्कि उनके माता पिता की सोच में भी इस तरह के बदलाव परिलक्षित होते हैं। तनिका के पिता कहते हैं कि ''हम चाहते हैं कि वह अपनी आजीविका खुद कमाए। पहले परिवार में एक कमाने वाला सदस्य होता था, लेकिन अब दोनों को कमाना जरूरी है... पहले उसे अपना लक्ष्य प्राप्त करने दीजिए और फिर हम उससे विवाह के बारे में बात करेंगे। समान जाति हमारी पहली प्राथमिकता होगी।'' इन साक्षात्कारों के माध्यम से लेखिका कहती हैं कि बेटियों की आजीविका की महत्वाकांक्षा की स्वीकृति छोटे शहरों में भी बढ़ रही है और उन परिवारों में भी जो पहले इन योजनाओं की स्वीकृति नहीं देते थे। इस किताब में जितनी पेशेवर महिलाओं के साक्षात्कार लिए गए हैं उन सभी ने जाति के अंदर माता-पिता के द्वारा तय किया हुआ विवाह करने से इनकार नहीं किया है। ये सभी महिलाएं सामाजिक रूप से प्रगतिशील न होते हुए भी एक प्रकार से 'नारीवादी' हैं। लेखिका लिखती हैं कि जो साक्षात्कार मैंने लिए हैं उसमें कुछ महिलाएं खुद को मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अंतर्गत आने वाले सभी अधिकारों पर दावा करते हुए देखी जा सकती हैं। उदहारण के लिए अनुछेद 17 अपनी स्वयं की संपत्ति पर अधिकार सुनिश्चित करता है और उससे किसी को मनमाने ढंग से वंचित नहीं किया जा सकता है। इस किताब के अनुवाद ने इसकी अंतर्वस्तु को काफी जटिल बना दिया है इसके साथ-साथ भाषा की त्रुटियां भी शोध की गंभीरता को कम कर रही हैं। फिर भी इस किताब में स्थापित तथ्यों के आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि आज के समय में महिलाओं का एक पेशेवर तबका अपनी आकांक्षाओं को खुलकर समाज के सामने अभिव्यक्त कर रहा है और अपेक्षा कर रहा है कि समाज भी उन सपनों को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़े।

कहानी

वक्त के 'कैंसर' का 'हिसाब-किताब' करती कहानियां

राहुल शर्मा

साहित्यकार

संपर्क :
ग्राम - कोदलिया,
पोस्ट-बंडेल
जिला-हुबली
पिन-712123
(प. बंगाल)

हरियश राय का कहानी संग्रह एक ऐसा ही संग्रह है जो अपने वक्त की नब्ज पर उंगलियां रखकर उसके बीट्स की पहचान करता है। ऐसा नहीं है कि हरियश राय ने किसी मानक को केंद्र में रखकर कहानियों को विस्तार दिया है और यदि ऐसा कहीं दिख भी जाता है तो वे अपने मानकों को स्वयं ही तोड़ते नजर आते हैं। हरियश राय की कहानियों ने यथार्थ की जमीन पर खड़े विकासवाद की इमारत की भीत (खोखली) को अपना विषय बनाया है। आशय यह कि जहां ये कहानियां एक ओर तारों पर पहुंचने के बाद भी धार्मिक कर्मकांडों में उलझे मनुष्य की मानसिकता को दर्शाती है तो वहीं बाजार के बढते प्रभाव के साथ-साथ शहर और मनुष्य के संबंध एवं मर रही मानवीय संवेदनाओं को अपने केंद्र में रखकर इनके कारणों को तलाशती है।

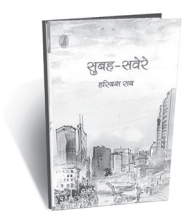

पुस्तक:
सुबह-सवेरे
लेखक :
हरियश राय
प्रकाशक:
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 136
मूल्य: ₹ 325

कहते हैं कहानी एक ऐसी विधा है जो बड़ी से बड़ी बातों को काफी काम्पेक्ट तरीके से कह जाती है। जहां तक समकालीन कहानी की बात है तो न केवल कहानी के फार्म ने एक नई करवट ली है अपितु उसमें यथार्थ भी ठीक वैसे ही उद्घाटित हुआ है जैसे एक गोताखोर समुद्र की अतल गहराई में उतर उसके रहस्यों को उद्घाटित करता है। हरियश राय का कहानी संग्रह एक ऐसा ही संग्रह है जो अपने वक्त की नब्ज पर उंगलियां रखकर उसके बीट्स की पहचान करता है। ऐसा नहीं है कि हरियश राय ने किसी मानक को केंद्र में रखकर कहानियों को विस्तार दिया है और यदि ऐसा कहीं दिख भी जाता है तो वे अपने मानकों को स्वयं ही तोड़ते नजर आते हैं। हरियश राय की कहानियों ने यथार्थ की जमीन पर खड़े विकासवाद की इमारत की भीत (खोखली) को अपना विषय बनाया है। आशय यह कि जहां ये कहानियां एक ओर तारों पर पहुंचने के बाद भी धार्मिक कर्मकांडों में उलझे मनुष्य की मानसिकता को दर्शाती है तो वहीं बाजार के बढते प्रभाव के साथ-साथ शहर और मनुष्य के संबंध एवं मर रही मानवीय संवेदनाओं को अपने केंद्र में रखकर इनके कारणों को तलाशती है। उधार लिए गए शब्दों में कहा जाए तो ये कहानियां 'वर्तमान द्वारा, वर्तमान से वर्तमान में' कही गई कहानियां हैं। हरियश राय की कहानियों पर बात करने से पहले संग्रह के आवरण से बात शुरू की जाए तो उसमें दो दृश्य नजर आते हैं एक ओर 'गांव' का 'शहरों' में परिवर्तन है तो दूसरी ओर शहर में अपने पांव पसारती अंधश्रद्धा जो कहानीकार के भीतर के जासूस की सजगता का परिचय देता है जो न केवल अपने समय की सबसे बड़ी विडंबनाओं की पड़ताल करता है अपितु 'आंखों से दिखने वाले रहस्य' का भी पदार्फाश करता है।

'यह कैंसर ही तो है, तुम तो ऐसे न थे और अंगूठी' शीर्षक कहानियां मनुष्य में घर करती जा रही अंध श्रद्धा की जड़ों पर प्रहार करती हैं। अंधश्रद्धा ने न केवल हालिया वर्षों में श्रम, आत्म सम्मान और विवेकशील युवाओं को तेजी से अपनी चपेट में लिया है अपितु उन्हें तार्किक रूप से पंगु बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। 'यह कैंसर ही तो है' शीर्षक कहानी एक ऐसे परिवार की कहानी है जो शिक्षित है, वेलस्टैबलिस्ड है। लेकिन यह परिवार एक डर से ग्रस्त है और वह डर है 'जो कुछ है वह छिन न जाए या जो कुछ है उससे थोड़ा और ज्यादा मिले।' दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह कहानी मनुष्य के भीतर पैठ चुके डर को उभारती कहानी है जिसमें एक पिता है, मां है, बेटी की बढती उम्र है और है उसकी शादी की चिंता। योग्य वर की तलाश करते हुए पिता की चिंता कुछ हद तक दूर होती भी नजर आती है पर बदलते वक्त में 'अंधश्रद्धा' की घुसपैठ पिता की उतर चुकी चिंता को दुगने भार के साथ चढा देती है और डर ज्यों का त्यों बना रहता है। कहानीकार ने यहां जिस सरलता से एक साधारण से लगने वाले विषय को कथा के केंद्र में रखा है यही 'आंखों से दिखने वाला रहस्य है' जो हमारे आस-पास दिखाई तो देता है पर शायद हम उसे उस गंभीरता के साथ नहीं लेते या हम खुद इस तरह की परिस्थिति से गुजर रहे होते हैं या गुजर चुके होते हैं। कहानी की पात्रा 'अस्मिता' पारिवारिक ढांचें में आ रहे बदलाव के साथ-साथ उस पीढी का प्रतिनिधित्व करती है जो जिंदगी को तर्क की कसौटी पर कसते हुए बड़े-बड़े निर्णय लेने में कोई झिझक महसूस नहीं करता। कहानी में जहां पिता अपनी बेटी की शादी को लेकर चिंतित है, उसकी यह चिंता दूर भी होती जान पड़ती है तो दूसरी ओर 'अस्मिता' है जो न सिर्फ अपने नाम के अर्थ अपितु 'अस्मिता' शब्द के पीछे छिपे संघर्ष (वर्तमान में एक शिक्षित लड़की के) को भी उजागर करती है साथ ही युवाओं में घर करती अंधश्रद्धा रूपी 'कैंसर' पर अपने तर्क की केमो किरणों से हमला बोलती है।

'तुम तो ऐसे न थे' कहानी विज्ञान पर अंधश्रद्धा के हावी होने को दर्शाती है। कहानी का आरंभ तरूण कुमार जिसने तारों पर अपनी रिसर्च की है अपने बेटे के नामकरण संस्कार के लिए सुरेश प्रसाद जो कि उसके शोध निदेशक थे को न्योता देने आने से होती

है। सुरेश प्रसाद का इन धार्मिक कर्मकांडों में कोई रुचि नहीं पर तरूण के बार-बार आग्रह करने पर वे उसके बेटे के नामकरण समारोह में जाने के लिए तैयार हो जाते है। दूसरे शब्दों में यह कहानी भी एक ऐसे माहौल में व्यक्ति के ढलते जाने की कहानी है जिसने व्यक्ति को अपने कंट्रोल में कर लिया है। तरूण कुमार जो कि एक पढा-लिखा युवक है वह भी एक तंत्र का शिकार हो जाता है और विज्ञान पर अंधश्रद्धा के विजय को दर्शाती कहानी है।

'अंगूठी' शीर्षक कहानी भी इसी अंधश्रद्धा की ओर संकेत करती है जिसमें इंजीनियरिंग का इम्तिहान दे रहे एक परिश्रमी और होनहार बेटे को उसके अविभावकों द्वारा जबरन अंगूठी पहनाने की कोशिश की जाती है और सुशील इम्तिहान के दिन अंगूठी बिना पहने इम्तिहान देने जाता है और इम्तिहान देकर खुशी-खुशी घर लौटता है। कुल मिलाकर कहा जाए तो ये तीनों कहानियां अंधश्रद्धा को केंद्र में लेकर चलती हैं लेकिन इन कहानियों को पढते वक्त पाठक यह भी महसूस करता चलता है कि भले ही विज्ञान के इस युग में अंधश्रद्धा अपने पांव पसार रही है पर कहानियों के पात्रों ने इन्हें पहचानना सीख लिया है।

'तुम तो ऐसे न थे' और 'अंगूठी' शीर्षक कहानियां 'विकासशील समय द्वारा पुरातन पथ के अनुसरण' को दशार्ती हैं। साथ ही यह सवाल भी उठाती है कि आखिर यह कैसा डर है जिसने मनुष्य को घेर लिया है? इस डर का उत्स क्या है? कहानियां पढने के दौरान जब पाठक इन प्रश्नों से दो चार होता है तब उत्तर के रूप में यही प्राप्त होता है कि कहीं न कहीं यह डर 'समय' द्वारा पैदा किया गया डर है। आज समय ने मनुष्य के सामने एक ऐसी परिस्थिति पैदा की है जो उसे परंपरा का निर्वाह करते हुए उसे परंपरा से काट रहा है और शायद यही वजह है कि वह कर्म से अधिक भाग्य पर डिपेंडेंट हो गया है। जहां तक इन कहानियों के पात्रों की बात आती है वे स्वभाव में बिलकुल उलट हैं। जहां 'तुम तो ऐसे न थे' का पात्र तरूण कुमार 'नामकरण संस्कार' जैसी परंपरा को चुपचाप स्वीकार कर लेता है तो वहीं 'अंगूठी' कहानी का नायक उस परंपरा का विरोध करता नजर आता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ये कहानियां बदलती पीढी और उसके वैचारिक तंतुओं की बनावट और बुनावट को पेश करती हैं।

'आमची मुंबई' और 'ऐसे माहौल में' कहानियों के केंद्र में व्यक्ति और शहर है। एक नए व्यक्ति के लिए एक अपरिचित शहर। इन कहानियों में एक तलाश है, चाहे वह वह रिहाइश को लेकर हो या अपने पांव जमाने की। 'आमची मुंबई' का कथा नायक विकास कुमार एक महीने से अपनी रिहाइश के लिए एक फ्लैट की तलाश में है। उसकी यह तलाश कहानी के शुरू में पूरी होती नजर आती है परंतु इस 'तलाश' को यदि एक बड़े फलक पर देखा जाए तो यह अमानवीय होते जा रहे शहरों में 'मानवता' के तलाश की कहानी के रूप में उभरकर हमारे सामने आती है। एक ऐसी मानवता जो धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ण, इन सब से परे है। कहानी का अंत मानवता के इसी पक्ष को उजागर करता है। यूं कहे कि कहानी समय की चाल के एक

हरियश राय : कहानियां पाठकों को याद रहती हैं

दूसरे पक्ष को भी उजागर करती है जिसमें 'विस्थापन' की पीड़ा तो है ही साथ ही नायक का 'समय के सत्य' के कई पहलुओं से अवगत होना भी है जिसमें समय के सबसे बड़े सत्य 'राजनीति और धर्म' के संबंध का मनुष्य पर पड़ने वाले प्रभाव के भी दर्शन होते हैं। हालांकि कहानीकार ने इसे एक सुखद अंत दिया है लेकिन यह एक गंभीर और ज्वलंत विषय है जिसे आज हम देख रहे हैं, अनुभूत कर रहे हैं।

जहां तक 'ऐसे माहौल में' कहानी की बात है तो यह भी शहर और व्यक्ति के बीच के बेतरतीब रिश्ते को दशार्ती कहानी है। यह व्यक्ति द्वारा साम-दाम-दंड भेद का उपयोग कर सत्ता को अपने हाथ में बनाए रखने की कोशिश और प्राप्त अधिकारों के दुरूपयोग को इंगित करती कहानी है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा बहुत से कानून लागू किए गए परंतु इन कानूनों का महिलाओं द्वारा जिस प्रकार दुरूपयोग हो रहा है वह एक गंभीर स्थिति की ओर इशारा करते हैं जिसमें एक गैर शहर में एक गैर शहरी असुरक्षा की भावना से ग्रसित नजर आता है।

'भंवर में' कहानी प्रेमचंद परंपरा को आगे बढाती कहानी जान पड़ती है। कहानी हमें 'हामिद' की याद दिला जाती है। फर्क सिर्फ इतना है कि 'हामिद' को बाजार अपना शिकार नहीं बना पाता पर इस कहानी के पात्र 'फरदीन' के सपनों पर पूरी तेजी से वार कर उसके गूगल के निर्माता 'सरगे ब्रिन' बनने के सपने को चूर कर देता है। आज बाजार के इस बोलबाले के बीच यह कहानी न केवल फरदीन के सपनों के टूटने की कहानी बन जाती है अपितु कुटीर उद्योगों और उसे करने वालों की पतनशीलता को भी रेखांकित करती है। साहित्य में इस विषय को बनाकर पहली कहानी (मेरी नजर में) बंग महिला द्वारा लिखित 'भाई-बहन' भी याद आ जाती है जिसमें स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का संदेश था 'लेकिन वक्त के हिसाब से बदलना पड़ता है' की तर्ज पर यह कहानी अंत में 'भाई-बहन' कहानी से भिन्न हो जाती है और 'जहीर' की गरीबी को बाजार भुना लेता है।

'सुबह-सवेरे' कहानी जो कि समीक्ष्य पुस्तक का शीर्षक भी है वृद्धावस्था के अकेलेपन को दशार्ती है साथ ही उस अकेलेपन से लड़ उस पर विजय प्राप्त करने की ताकत जुटाने की कहानी है। यह हमारे वर्तमान समय और समाज का सबसे बड़ा सच है कि आज संबंधों में कटुता आई है इस कटुता ने यदि सबसे अधिक किसी को प्रभावित किया है तो वे हैं 'वृद्ध'। वृद्धावस्था मनुष्य के जीवन का वह दौर है जिसमें अपना शरीर तक साथ छोड़ने लगता है और ऐसी दशा में जब अपनो द्वारा ही वह अवहेलित होता है तो यह और दुसह हो जाता है। जीवन एक ऐसी अंधेरी गुफा की तरह जान पड़ने लगता है और जहां जाने में डर लगता है। कहानी के नायक अरूण रंजन वशिष्ट बुढापे की परिधि में आ चुके एक ऐसे ही इनसान है जो एक डर के अधीन नजर आते हैं लेकिन कहानी के नरेटर द्वारा कहानी के अंत में उम्र की अपेक्षा मनुष्य की सक्रियता और गतिशीलता के महत्व को बतलाना उम्र के इस पड़ाव पर आ चुके लोगों को एक नई प्रेरणा देती है जिसके दर्शन हमें अरूण रंजन के चरित्र में होते हैं।

'जिद हो तो ऐसी' कहानी शिखा मेहता के संघर्ष की कहानी है जो कि कहानी का केंद्रीय पात्र भी है। इस कहानी में एक आदर्श देखने को मिलता है और आदर्श है 'परहित की भावना'। शिखा मेहता जीवट और धुन की पक्की महिला है पर उसका जीवन जिस आदर्श को लेकर चलता रहा उसी जीवन ने उसकी सुध तक नहीं ली और उसे अकेला जीने और मरने के लिए छोड़ दिया। अंततः एक 'जिद' के परास्त होने की कहानी है। जो समाज से तो लोहा लेती रही परंतु वह समाज उसे अपना न सका।

इस संग्रह की अन्य कहानियों में 'भीमा का संकल्प' और 'भूत-प्रेत' कहानियों की पृष्ठभूमि लगभग एक सी है। जहां 'भीमा का संकल्प' कहानी के अंत में 'भीमा' असीम सत्ता पर मेहनत की जीत का परचम लहराता है तो वहीं 'भूत-प्रेत' कहानी का पात्र रामानंद भी कहानी के अंत में उस सामाजिक संरचना का विरोध करता है जो धर्म के नाम पर लोगों को लूटता है।

'अन्न-जल' कहानी किसान बनाम बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खेल को रेखांकित करती है जहां किसान से उसका 'अन्न-जल' अर्थात् उसकी जमीन का बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अधिग्रहण किया जा रहा है साथ ही यह कहानी किसानों के परिवार में दिख रहे उस पीढीगत अंतराल को भी दर्शाती है जो अब किसानी से अधिक उद्योगों के पक्ष में खड़ी नजर आती है।

'कबूतर-कबूतर' और 'हिसाब-किताब' दो ऐसी कहानियां हैं जिसके केंद्र में 'संवेदना' है। एक में मनुष्य और पक्षी के संबंधों से इस संवेदना को उकेरा गया है तो वहीं 'हिसाब-किताब' में मरती जा रही संवेदना और मानवीय धूर्तता के दर्शन होते हैं।

जहां तक भाषा का प्रश्न है तो संग्रह इसमें धनी है। यह भाषा की सरलता ही है कि कहानियां पाठकों को याद रहती हैं। कुछ एक कहानियों को पढते हुए थोड़ी रूकावट महसूस होती है तो कहीं संवाद बहुत भगते हुए से प्रतीत होते हैं। पात्रों पर दृष्टिपात किया जाए तो सभी पात्र अपने समय को पहचानते हुए नजर आते हैं तभी तो ये कहानियां 'वक्त के 'कैंसर' का हिसाब-किताब' करती नजर आती हैं।

कविता

आशा का संचार

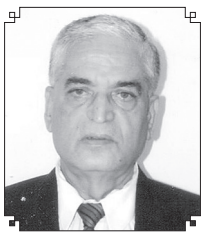

एस. कुमार

साहित्यकार

संपर्क :
4 प्रोफेसर्स क्वाटर
बी.डी. इंजीनियरिंग कॉलेज,
सेवाग्राम, वर्धा (महाराष्ट्र)

काव्य संग्रह में भाव जितने सच्चे हैं भाषा भी उतनी ही सहज है। बिंबों की जटिलता और प्रतीकों की दुरुहता से दूर भावाभिव्यक्ति हृदयस्पर्शी है। पाठकों के लिए पठनीय काव्य संग्रह 'रोशनी की तलाश' कवि का प्रथम काव्य संग्रह होते भी अनुभूति और अभिव्यक्ति विशिष्ट हैं। शायद यही कारण है कि उनका यह कविता संग्रह मुहब्बत पसंद लोगों के मन को भाएगा हालांकि कुछ कविताओं में लयात्मकता का टूटना खटकता है पर ऐसा वहीं हुआ है जहां अनुभूति को विचार-पोषित विस्तार देने का प्रयत्न बखूबी किया गया है। प्रूफ की गलतियां अवरोध बनकर उपस्थित हैं।

शब्दों की सर्जरी करते हुए सेवाग्राम आरोग्यशाला के वरिष्ठ चिकित्सक डॉ. ओमप्रकाश गुप्त मानवीय चेतना को दुरुस्त रखने के लिए कविता के रूप में कैप्सूल का भाव-चिंतन देकर नैसर्गिक पर्यावरण की जमीन तैयार करते हैं। डॉ. ओ.पी. गुप्त के नामधर्म से प्रसिद्ध चिकित्सकीय सेवा के साथ-साथ साहित्य सेवा का व्रत प्रतिपालन करते हुए उनको अपने पूर्वज राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की तपःसाधना का प्रासाद स्वरूप काव्य चेतना का चयन प्राप्त है।

डायरी के पन्नों से संकलित कुल 120 पृष्ठों में छोटी-बड़ी और कुछ लंबी कविताओं की श्रृंखला को संपादित करती लगभग 105 कविताओं की अपनी अलग-अलग बानगी देखने को मिलती है जिसमें समय के नब्ज को पकड़ने की पुरजोर कोशिश की गई है। 'रोशनी की अनंत तलाश' शीर्षक से प्रस्तुत काव्य चेतना के परिवेश में आस-ज्योत, संशय बिंदु के मौन बिंब को अनहद से अक्षय प्रश्न का मंगलघट उकेर कर युग धर्म का निर्वाह करता है। यहीं पर शब्द-चित्र सहचर लगने लगते हैं और काल-पखेरू उल्लास से उड़ान भरने लगते हैं। यह स्थिति सहज मन की सहज शब्द-साधना का सर्जरी कराता है और कविता की स्फुलिंग पर्यावरण में सहज ही गूंजने लगती है। यथा कविताएं प्रेरित करती हैं-

'मेरे तममय इस जीवन को'

कवि ओमप्रकाश गुप्त की 'मेघदूत' कविता अपनी सदी की चैधराहट है जिसमें तनमय भरा क्षण टूट जाता है। कवि मेघदूत का स्वागत करते हुए विचलित है। प्रकृति के स्वप्न को सहेजता यहां कवि नित बदलती व्यवस्थाओं से अकुलाता भी है और फिर अपने युगधर्म पर लौट आता है। यह सहज है कि परिवेश का प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है। कवि आचार्य विनोबा, बापू और राम का अद्वैत प्राप्त करता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी, साकेत और बापू के प्रति की श्रद्धा-संवेदना चिकित्सक कवि के संवेदना में समाहित है। काव्य-सर्जना की धरोहर की तरह जिसे विरासत की बिहु रचना कहना अतिशयोक्ति न होगा। यह आस्था का मूल्य विरासत ही कवि को 'ईराक समर' पर दृष्टि डालने को प्रेरित करता है।

76 वर्ष की उम्र। बापू नगरी में डॉ. ओमप्रकाश गुप्त एक ऐसे चिकित्सक हैं जहां आशा का संचार प्रवाहित होता है। वे दुखियारी मनुष्य के तन और मन को चंगा कर देते हैं। तन को जहां डॉक्टरी पेशा तो वहीं मन को साहित्यिक संवेदना का स्पर्श देकर कविता रचते हुए। डॉक्टरी पेशा से संबद्ध ओमप्रकाश गुप्त का झुकाव कविता की ओर क्यों हुआ होगा, इसे उनकी कविता पढ़ने-सुनने वालों को बताने की जरूरत शायद ही पड़े। जिस प्रकार से स्वांत सुखाय के लिए बाथरूम में गुनगुनाने वालों का जब

न केवल चिकित्सकीय बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी ओमप्रकाश गुप्त का व्यवहार उनकी इसी सरलता, दोटूकपन, साफगोई और इनसानीपन से भरा-पूरा है। यही कारण है राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जयंती के बहाने वे करीब बीस वर्षों से साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से गुलजार करते हैं।

पुस्तक:
रोशनी की अनंत तलाश
कवि:
डॉ. ओमप्रकाश गुप्त
प्रकाशक:
उदय पब्लिशिंग हाउस,
विशाखापट्टनम
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ: 120
मूल्य: ₹ 275

कैसेट और डीवीडी तैयार हो जाती है तभी वह संगीत के रसिकों के दिल में उतरती है, ठीक उसी प्रकार से ओमप्रकाश गुप्त ने मन में उठ रहे भावों को डायरी में लिपिबद्ध कविता को 'रोशनी की अनंत तलाश' नामक काव्य-संग्रह में संकलित किया है।

उनकी सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह 'रोशनी की अनंत तलाश' में मनुष्यता के पक्ष उजागर होते हैं। वे बेशक एक भरे-पूरे संवेदनशील व जिंदादिल इनसान हैं इसलिए उनकी कविता अनीति और अत्याचार को लेकर चुप न रहने वाले बयानों से ओत-प्रोत हैं। न केवल चिकित्सकीय बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी ओमप्रकाश गुप्त का व्यवहार उनकी इसी सरलता, दोटूकपन, साफगोई और इनसानीपन से भरा-पूरा है। यही कारण है राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जयंती के बहाने वे करीब बीस वर्षों से साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से गुलजार करते हैं।

आसपास के परिवेश के प्रति ओमप्रकाश गुप्त में गजब की सतर्कता है, वंचना और शोषण की दयनीय स्थितियों के लिए उनके हृदय में जबरदस्त संवेदना है और समाज की विकृतियों के प्रति उनके मस्तिष्क में गहरा क्षोभ है। वे जिंदगी को तलाशते हुए कहते हैं- ''खुद खोजता हूं जिंदगी को/मैं परछाइयों में/मैं कौन हूं, आया कहां से/मकसद भला क्या है मेरा/मायावी दुनिया में खुदगर्ज बस्ती/चारो तरफ अंधेरा/डूबता, उतरा रहा/किन गहराइयों में/खुद खोजता हूं जिंदगी को/मैं परछाइयों में।'' (पृ. 52)

हिंदी कविता के परिदृश्य में ओमप्रकाश गुप्त की एक सार्थक उपस्थिति है। हिंदी कविता को बाजारू प्रलोभनों से बचाकर विश्वनीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की रचनात्मक कोशिश ओमप्रकाश गुप्त को सहज ही विशिष्ट बनाती हैं। इनकी कविताएं किसी वाद या परिपाटी तक सीमित कविताएं नहीं हैं बल्कि इनकी लेखनी में प्रायः ऐसे विषयों को उठाया गया है जो मानवीय गरिमा और मानवीय चेतना के लिए अनिवार्य तत्व हैं।

ओमप्रकाश गुप्त आज की मोबाइलपरस्त पीढ़ी को लेकर किंचित मुरझाहट से भी भरे हुए हैं। इस दर्द को उन्होंने 'मेघदूत' कविता में बयां किया है। वे कहते हैं कि, ''21 वीं सदी में.../मैं सोच ही रहा था/कि उसी ने पहल की/चलो आपको याद तो है/कि कालिदास के लिए/मैं ही वह मेघदूत था/आज तो क्लब का जमाना है/और मोबाइल का भी/लोग आते हैं ऊंचाइयों पर/मौज-मस्ती मनाते हैं।'' (पृ. 57) ग्लोबल बाजारों

हिंदी कविता के परिदृश्य में ओमप्रकाश गुप्त की एक सार्थक उपस्थिति है। हिंदी कविता को बाजारू प्रलोभनों से बचाकर विश्वनीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की रचनात्मक कोशिश ओमप्रकाश गुप्त को सहज ही विशिष्ट बनाती हैं। इनकी कविताएं किसी वाद या परिपाटी तक सीमित कविताएं नहीं हैं बल्कि इनकी लेखनी में प्रायः ऐसे विषयों को उठाया गया है जो मानवीय गरिमा और मानवीय चेतना के लिए अनिवार्य तत्व हैं।

को लेकर तीखे और आलोचनात्मक भंगिमाओं से भरे हुए, प्रौद्योगिकी प्रसूत बाजारू सभ्यता से नाराज वे लगभग उस पिछले जमाने में बार-बार जाते, शरण खोजते और शरण लेते दिखते हैं जो मानवीय संबंधों की खूबसूरती, भरोसे और उष्मा से भरा हुआ था। वे वैश्वीकरण से उपजे विश्वग्राम पर कलम चलाते हुए कहते हैं कि, ''भूमंडलीकरण ने बदल दिये हैं नाम/धरती पर है उग आया, एक विश्वग्राम।'' (पृ. 4)

बाजार की प्रतिस्पर्धा ने दुनिया को हिंसा की आग में झोंक दिया है। साम्राज्यवादी ताकतें अपने मनी, माइंड, मसल के माध्यम से लोहा मनवा रहा है। प्राकृतिक तेल और गैस पर कब्जा करने की साजिश के तहत कैसे बड़े-बड़े युद्ध लड़े गए और कितनी हिंसा हुई है, इसका जीता जागता उदाहरण ईराक युद्ध भी है। कवि ने 'ईराक समर' नामक कविता में लिखा है कि, ''खुद का सीना फाड़, जगह दे दी/ वरना बचा ही कौन है/उनको दफन करने को/हविश की कौन करे बात/लूटने वालों ने/कफन भी नहीं छोड़ा/दरिन्दे/अब पियेंगे तेल खुलकर/और झूमेंगे, शाही मस्ती में/पड़ोसी सो गए हैं तान चादर/ लगी है आग/दूर किसी बस्ती में/इस वहशीपन का इलाज है क्या?।'' (पृ. 75) यह तो सच है कि आज इस वहशीपन का इलाज नहीं है। नव साम्राज्यवादी नीति के तहत अमेरिका दुनिया में अपनी धौंस जमा रहा है।

ओमप्रकाश गुप्त अपनी कविता के माध्यम से गांव की सैर कराते हैं और टूटन भरे समाज में परंपरा से उधार लेते हुए संस्कृति को गुंजायमान करते हैं- ''तुम आ जाओ/हम जीवन के परिधान बदल कर आए हैं/अधरों से विस्मृत हास्य पुनः/शायद जीवन में आ जाए/युग-युग से देखे स्वप्न मधुर/मूर्त-रूप बन छा जाएं।'' (पृ. 105)

काव्य संग्रह में भाव जितने सच्चे हैं भाषा भी उतनी ही सहज है। बिंबों की जटिलता और प्रतीकों की दुरुहता से दूर भावाभिव्यक्ति हृदयस्पर्शी है। पाठकों के लिए पठनीय काव्य संग्रह 'रोशनी की तलाश' कवि का प्रथम काव्य संग्रह होते भी अनुभूति और अभिव्यक्ति विशिष्ट हैं। शायद यही कारण है कि उनका यह कविता संग्रह मुहब्बत पसंद लोगों के मन को भाएगा हालांकि कुछ कविताओं में लयात्मकता का टूटना खटकता है पर ऐसा वहीं हुआ है जहां अनुभूति को विचार-पोषित विस्तार देने का प्रयत्न बखूबी किया गया है। प्रूफ की गलतियां अवरोध बनकर उपस्थित हैं।

बहरहाल पेशे से चिकित्सक डॉ. ओमप्रकाश गुप्त कविताओं के माध्यम से समाज में इनसानीपन के लिए खड़े दिखते हैं, वे अपने पेशे के साथ न्याय करते हुए सामाजिक कार्यों में तल्लीन होकर मंजिल की ओर बढ़े जा रहे हैं, हम आशा करते हैं कि आगे आने वाले दिनों में हमें उनकी और भी रचनाओं का रसास्वादन करने को मिलेगा।

आवश्यक सूचना

'पुस्तक-वार्ता' के सभी प्रेमी पाठकों को अवगत कराना है कि कागज, मुद्रण, जिल्दसाजी, परिवहन, डाक खर्च में पिछले कुछ वर्षों में अप्रत्याशित बढ़ोत्तरी हुई है। इस कारण इसी अंक से 'पुस्तक-वार्ता' की एक प्रति का मूल्य ₹ 50/- होगा एवं वार्षिक शुल्क ₹ 300/- एवं (व्यक्तिगत) एवं ₹ 370/- रुपये (संस्थागत) होगा। आशा है आप सभी पाठकों का सहयोग पूर्ववत मिलता रहेगा।

- संपादक

बहुजन साहित्य के उभरते स्वर

मोहनदास नैमिशराय

दलित चिंतक

संपर्क :
बी.जी. 5ए/30 बी.
पश्चिम विहार, नई
दिल्ली-110063

इतिहास में जाएं तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोह की शुरुआत हो गई थी। विशेष रूप में तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और बिहार में इस तरह के विरोध पनपे थे। इन्हीं राज्यों के समानान्तर उत्तर प्रदेश, पंजाब, आंध्र प्रदेश में भी मनुष्य की गरिमा के लिए जातिवाद विरोधी आंदोलन होते रहे। साहित्य भी लिखा जाने लगा। लेकिन आजादी के बाद 70 के दशक से दलितों के साथ पिछड़ों और अति पिछड़ों (ओबीसी और एमबीसी) ने भी एकजुट होकर मोर्चाबंदी की। कांशीराम जी के आगमन के बाद तो बहुजन समाज के आंदोलन का मानो सैलाब ही उमड़ पड़ा। उन्होंने मिल-जुलकर अन्यायकारी वर्गों/जातियों/लोगों से निपटने की चुनौती स्वीकार की। प्रमोद रंजन और आवयन कोस्का के संपादन में 'बहुजन साहित्य की प्रस्तावना' दस्तावेज उसी का परिणाम है। प्रमोद रंजन दलित-बहुजन मासिक पत्रिका फारवर्ड प्रेस के सलाहकार संपादक हैं, जबकि आयवन कोस्का प्रधान संपादक हैं।

पुस्तक:
बहुजन साहित्य की प्रस्तावना
संपादक: प्रमोद रंजन,
आयवन कोस्का
पुस्तक सीरिज: फारवर्ड प्रेस
बुक्स, नई दिल्ली
प्रकाशक:
द मार्जिनलाइज्ड, वर्धा/दिल्ली
पृष्ठ: 128
मूल्य: ₹ 300

इसमें कोई शक नहीं है कि अमानवीय परंपराओं और प्रथाओं को पालने-पोसने वाले ब्राह्मणवाद के पैरोकारों तथा मठाधीशों के खिलाफ शुरुआती दौर में दलित साहित्य के गर्भ से विस्फोट और विद्रोह हुआ था। यहां यह चर्चा करना बेमानी होगा कि पहले मराठी दलित साहित्यकारों ने ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोह की शुरुआत की या किसी दूसरे ने। हमारी राय में पिछली शताब्दी के मध्य तक हिंदू धर्म के ब्राह्मणवाद और जाति व्यवस्था के विरोध में सारे देश में विरोध शुरू होने लगा था। यह विरोध पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधियों के द्वारा भी हुआ था। पर विरोध की तब सीमाएं थीं और यह प्रायः अपनी-अपनी जातियों की गोलबंदी तक ही सीमित था। अलग-अलग जातियों के लोगों के बीच मिलना-जुलना बहुत कम था। इतिहास में जाएं तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोह की शुरुआत हो गई थी। विशेष रूप में तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और बिहार में इस तरह के विरोध पनपे थे। इन्हीं राज्यों के समानांतर उत्तर प्रदेश, पंजाब, आंध्र प्रदेश में भी मनुष्य की गरिमा के लिए जातिवाद विरोधी आंदोलन होते रहे। साहित्य भी लिखा जाने लगा। लेकिन आजादी के बाद 70 के दशक से दलितों के साथ पिछड़ों और अति पिछड़ों (ओबीसी और एमबीसी) ने भी एकजुट होकर मोर्चाबंदी की। कांशीरामजी के आगमन के बाद तो बहुजन समाज के आंदोलन का मानो सैलाब ही उमड़ पड़ा। उन्होंने मिल-जुलकर अन्यायकारी वर्गों/जातियों/लोगों से निपटने की चुनौती स्वीकार की। प्रमोद रंजन और आवयन कोस्का के संपादन में 'बहुजन साहित्य की प्रस्तावना' दस्तावेज उसी का परिणाम है। प्रमोद रंजन दलित-बहुजन मासिक पत्रिका फारवर्ड प्रेस के सलाहकार संपादक हैं, जबकि आयवन कोस्का प्रधान संपादक हैं।

प्रमोद रंजन किताब की प्रस्तावना में लिखते हैं, 'इस किताब में संकलित लेख इस विमर्श के आरंभिक दौर के हैं। आज यह यात्रा वहां से कई पायदान आगे बढ़ चुकी है। फिर भी ये आरंभिक लेख इस पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है।'

उन्होंने 'बहुजन साहित्यः एक बड़ी छतरी' शीर्षक लेख में बताया है कि, 'बहुजन साहित्य की अवधारणा का जन्म फारवर्ड प्रेस के संपादकीय विभाग में हुआ तथा इसका श्रेय हमारे मुख्य संपादक आयवन कोस्का, आलोचक व भाषाविज्ञानी राजेंद्र प्रसाद सिंह तथा लेखक प्रेम कुमार मणि को है। यह पिछले लगभग डेढ़ वर्षों में हमारे बीच चले वाद-विवाद और संवाद का नतीजा था। सबसे पहले श्री कोस्का ने, जब मैं फारवर्ड प्रेस में मई, 2011 में संपादक (हिंदी) नियुक्त हुआ, मुझे अपने 'ओबीसी साहित्य' संबंधी विचार से परिचित करवाया, बाद में राजेंद्र प्रसाद सिंह भी 'ओबीसी साहित्य' की अवधारणा लेकर सामने आए थे, लेकिन प्रेम कुमार मणि ने इस शब्दावली का घनघोर विरोध किया था। मैं भी इस शब्दावली से सहमत नहीं था। मैंने उस समय 'ओबीसी साहित्य' की जगह 'शूद्र साहित्य' कहने का प्रस्ताव रखा था। 'शूद्र' शब्द संस्कृति और हिंदू धर्म द्वारा प्रदत्त है तथा शूद्रों तथा अतिशूद्रों की एक लंबी साहित्यिक परंपरा भी हिंदी पट्टी में मौजूद रही है। अंतत : हम 'बहुजन साहित्य' नाम की एक बड़ी छतरी के नाम पर सहमत हुए और वर्ष अप्रैल 2012 में, फारवर्ड प्रेस ने पहली 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' प्रकाशित की।'

गौरतलब है कि फारवर्ड प्रेस पत्रिका का प्रकाशन मुद्रित रूप में मई, 2009 से जून, 2016 तक हुआ। एक जून, 2016 से यह पत्रिका स्वतंत्र वेब पोर्टल में रूपांतरित हो गई है । कहना न होगा कि फारवर्ड प्रेस पत्रिका ने इन आठ वर्षों में वह कार्य कर डाला जो पिछले एक सौ बरसों में भी नहीं हुआ। दलितों/पिछड़ों/अति पिछड़ों/अल्पसंख्यकों और महिलाओं को ब्राह्मणवाद के खिलाफ जोड़ना निश्चित ही मशक्कत का काम था, जो फारवर्ड प्रेस की टीम ने कर दिखाया और सनातनियों/

परंपरावादियों/जातिवादियों को दिन में ही तारे दिखाई देने लगे। बहुजन साहित्य की अवधारणा भी पत्रिका द्वारा रखा गया एक ऐसा विचार है, जिसके दूरगामी असर होंगे।

प्रमोद रंजन के शब्दों में हम कहें तो, 'बहुजन साहित्य की अवधारणा अपने आप में एकदम सीधी है - अभिजन के विपरीत; बहुजनों का साहित्य। जैसा कि ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने कहा था - बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। लेकिन इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण चीजों को भी ध्यान में रखना चाहिए। बहुजन साहित्य बहुसंख्यकों का साहित्य जरूर है, लेकिन यह बहुसंख्यकवाद का साहित्य नहीं है। इसका आधार संख्या बल नहीं, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना के पक्ष में जिस सामूहिक-सामुदायिक-सांप्रदायिक चेतना का निर्माण मनुवाद करता है, बहुजन साहित्य उसके विरुद्ध विभिन्न सामाजिक तबकों की प्रतिनिधि आवाज है। यह साहित्य समाज के उस अंतिम आदमी का साहित्य है, जो किसी भी प्रकार की वंचना झेल रहा है। यह न सिर्फ आर्थिक वंचना और अस्पृश्यता के सवाल को उठाता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण के विविध रूपों को भी चिह्नित करता है।'

अपने इसी आलेख में प्रमोद रंजन कबीर और रैदास के साहित्य तथा जोतिबा फुले और आंबेडकर के चिंतन में समानताओं का उल्लेख भी करते हैं। वे आगे यह भी लिखते हैं कि शूद्रों, अतिशूद्रों, आदिवासियों तथा स्त्रियों के बीच मुख्य समानता उन्हें मनुवादी व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित किए जाने तथा उसके विरुद्ध उनका संघर्ष है। यह समानता ही इसके साहित्य को 'बहुजन साहित्य' के खाते में रखती है।

अपने तीसरे आलेख, 'एक अवधारणा का निर्माण काल' में वे लिखते हैं, 'जोतिबा फुले और आंबेडकर दोनों ने मुख्य रूप से अलग-अलग शब्दावली में शूद्रों-अतिशूद्रों तथा स्त्री की गुलामी और इससे मुक्ति के लिए इनकी एकता की बात की है। हिंदी में 'बहुजन साहित्य' का जन्म प्रकारांतर से इसी विचार के सांस्कृतिक-सामाजिक आधार की खोज की जरूरत पर बल देने के लिए हुआ है। ..पिछले लगभग 2500 सालों के ज्ञात इतिहास के नायकों को देखें-बुद्ध, कौत्स, मक्खली गोशाल, अजित केशकंबली, कबीर, रैदास, शाहूजी महाराज, जोतिबा फुले, डॉ आंबेडकर, राममनोहर लोहिया, कांशीराम। दक्षिण भारत के नायकों को छोड़ भी दिया जाए तो भी यह सूची बहुत लंबी हो सकती है। वैसे इनमें से अधिसंख्य मध्यवर्ती सामाजिक समुदायों में पैदा हुए हैं। दूसरी बात यह स्पष्ट दिखती है कि ये नायक चाहे मध्यवर्ती जातियों में पैदा हुए हों या दलित जातियों में, सबने इन दोनों समुदायों तथा स्त्रियों की साझी गुलामी से मुक्ति की बात की। आज की परिस्थितियों में वर्तमान व्यवस्था की सबसे अधिक मार खा रहे आदिवासी भी इस अवधारणा के अंतर्गत आएंगे।'

अपनी-अपनी अस्मिता की तलाश में दलित और पिछड़ों के उभार का विश्लेषण किया जाए तो ऐतिहासिक दृष्टि से दलित कहीं आगे निकला हुआ महसूस होता है। जबकि पिछड़ी जातियों के इस प्रतिस्पर्धा में अपने द्वंद्व आड़े आते रहे हैं। पुस्तक में इस बारे में अभय कुमार दुबे की बेबाक टिप्पणी देखें, 'राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में 'पिछड़ा' शब्द आज के अपमानजनक से सम्मानजनक की यात्रा संपन्न नहीं कर पाया है। पिछड़ों के उलट सामाजिक श्रेणीक्रम में उनके मुकाबले कहीं ज्यादा नीचे रही अनुसूचित जातियों ने निर्विवाद रूप से यह कर दिखाया है। वे खुद के लिए जिस 'दलित' संबोधन का इस्तेमाल करती है, उसके सामाजिक मायने वे नहीं रह गए हैं, जो शब्दकोश में दर्ज है। दलित का सामाजिक निहितार्थ अब टूटा हुआ, दबा हुआ या कुचला हुआ नहीं है, बल्कि उसका मतलब हो गया है- संघर्षशील और उर्ध्वगामी। राजनीतिक एकता के साथ दलितों में साहित्यिक और सांस्कृतिक स्तर पर लगातार एक वैकल्पिक दुनिया बनाने की बौद्धिक जद्दोजहद रही है। इसके विपरीत पिछड़ों के एजेंडे पर न तो राजनीतिक एकता है और न ही किसी किस्म की साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयास।' इसका कारण यह भी रहा कि पिछले एक सौ वर्षों से पहले से ही दलितों के भीतर अपने इतिहास, अपनी संस्कृति, अपनी अस्मिता से जुड़ने की भावना रही। चाहे केरल में वैसे प्रयास अयंकाली के द्वारा हुए हो या पंजाब में मांगूराम की ओर से, महाराष्ट्र में जन-चेतना के प्रयास अंबेडकर ने शुरू किए हो या उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानंद ने।

पुस्तक में ओबीसी साहित्य से संबंधित कुछ अवधारणाएं और तर्क पेश कर उस कमी को पूरा करने की भी कोशिश की गई है, जिसकी ओर अभय कुमार दुबे ने इशारा किया है। अपने लेख में राजेंद्र प्रसाद सिंह सवाल करते हैं 'अगर भारतीय समाज में एक साहित्यिक युग (सामंत युग) दबंग वर्ग के नाम

प्रमोद रंजन

आयवन कोस्का

प्रमोद रंजन ने 'बहुजन साहित्य: एक बड़ी छतरी' शीर्षक लेख में बताया है कि, 'बहुजन साहित्य की अवधारणा का जन्म फारवर्ड प्रेस के संपादकीय विभाग में हुआ तथा इसका श्रेय हमारे मुख्य संपादक आयवन कोस्का, आलोचक व भाषाविज्ञानी राजेंद्र प्रसाद सिंह तथा लेखक प्रेम कुमार मणि को है। यह पिछले लगभग डेढ़ वर्षों में हमारे बीच चले वाद-विवाद और संवाद का नतीजा था। सबसे पहले कोस्का ने, जब मैं फारवर्ड प्रेस में मई, 2011 में संपादक (हिंदी) नियुक्त हुआ, मुझे अपने 'ओबीसी साहित्य' संबंधी विचार से परिचित करवाया, बाद में राजेंद्र प्रसाद सिंह भी 'ओबीसी साहित्य' की अवधारणा लेकर सामने आए थे, लेकिन प्रेम कुमार मणि ने इस शब्दावली का घनघोर विरोध किया था। मैं भी इस शब्दावली से सहमत नहीं था। मैंने उस समय 'ओबीसी साहित्य' की जगह 'शूद्र साहित्य' कहने का प्रस्ताव रखा था। 'शूद्र' शब्द संस्कृति और हिंदू धर्म द्वारा प्रदत्त है तथा शूद्रों तथा अतिशूद्रों की एक लंबी साहित्यिक परंपरा भी हिंदी पट्टी में मौजूद रही है। अंतत : हम 'बहुजन साहित्य' नाम की एक बड़ी छतरी के नाम पर सहमत हुए और वर्ष अप्रैल 2012 में, फारवर्ड प्रेस ने पहली 'बहुजन साहित्य वार्षिकी' प्रकाशित की।'

पर हो सकता है, तब उसी समाज के एक कमजोर एवं पिछड़ा वर्ग के नाम पर ओबीसी साहित्य की अवधारणा क्यों नहीं खड़ी की जा सकती है?..वर्ग क्या, जाति के आधार पर भी हिंदी साहित्य में 'चारण काल' जैसे नाम दर्ज किए गए हैं। आधुनिक काल में द्विवेदी युग (काव्य), शुक्ल युग (आलोचना) जैसे नामकरण भी जातिसूचक उपाधि के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं। यदि दलित साहित्य हो सकता है तो ओबीसी साहित्य क्यों नहीं? भारतीय समाज में ओबीसी की आबादी आधी से भी ज्यादा है। फिर ओबीसी साहित्य क्यों और कैसे नहीं?' सिद्ध और संत साहित्य और ओबीसीः राजेंद्र प्रसाद सिंह का कहना है कि सिद्ध और संत साहित्य में दलितों के साथ-साथ कई ओबीसी रचनाकार हैं। सिद्धों में मीनपा मछुआरे हैं। कमरिपा लोहार हैं। तंतिया तंतवा जाति से आते हैं। चर्पटीपा और कंतालीया क्रमशः कहार और दर्जी हैं। मेकोपा, मलिपा, उधलिया आदि वैश्य वणिक हैं। तिलोपा तेली हैं। जाहिर सी बात है कि मछुआरा, लोहार, तंतवा, कहार, दर्जी, बनिया, तेली आदि जातियां ओबीसी में आती हैं।

उनका तर्क है कि 'संत काव्यधारा में दलितों की संख्या सर्वाधिक है, परंतु यह स्थापना देते वक्त हम ओबीसी रचनाकारों को भूल-सा जाते हैं, वरना संत साहित्य ऐसे रचनाकारों से भरा पड़ा है। सिर्फ महाराष्ट्र में ही नामदेव (दर्जी) के अतिरिक्त गोरा (कुम्हार), सांवता (माली), नरहरि (सोनार), सेना (नाई), राका (कुम्हार) जैसे कई ओबीसी के रचनाकार हुए हैं। हिंदी में त्रिलोचन (वैश्य), अखा (सोनार), सदन (कसाई), चरणदास (वैश्य), पलटूसाहब (बनिया), बुलासाहब (कुर्मी), धर्मदास (वैश्य), सिंगाजी (ग्वाल), सुंदरदास (खंडेलवाल वैश्य) आदि जैसे संत ओबीसी रचनाकार हैं। महिलाओं में भी वैश्य होने के नाते सहजोबाई और दयाबाई जैसी कवयित्रियां ओबीसी हैं। संत काव्यधारा में दो दरियादास हुए। बिहार वाले दरियादास दर्जी परिवार से आते हैं और मारवाड़ वाले धुनिया हैं। दर्जी और धुनिया- ये दोनों जातियां ओबीसी की सूची में हैं। दादू दयाल भी मुस्लिम धुनिया हैं। मुस्लिम धुनिया भी ओबीसी में उसी तरह शामिल है, जैसे मुस्लिम धोबी, चीक, पमरिया आदि जातियां शामिल हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिंदी का संत साहित्य मुख्यतः ओबीसी और दलित रचनाकारों द्वारा लिखित साहित्य है।'

वे यह भी कहते हैं कि 'हिंदी के इतिहास-ग्रंथ कई प्रकार के संप्रदायों एवं संप्रदाय-विशेष के रचनाकारों से भरे पड़े हैं।...'भक्ति के अनेक ब्राह्मणवादी संप्रदायों में श्री संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय, रुद्र संप्रदाय और सनकादि संप्रदाय को विशेष ख्याति मिली है, पर सरभंग संप्रदाय की चर्चा पर इतिहासकार चुप्पी साध लेते हैं। कारण कि सरभंग संप्रदाय के सभी दमदार कवि ओबीसी के हैं। अठारहवीं सदी में सरभंग संप्रदाय के कई ओजस्वी कवि मौजूद थे। छतरबाबा को उक्त संप्रदाय का आदि कवि माना जाता है। वे जाति के कुम्हार थे। उनकी पूंजी एक हांड़ी थी। उसी में दिन में स्वयं भोजन बनाते और रात में उसी को तकिया बनाकर सोते थे। कहते हैं कि भिनकराम से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। भिनकराम जाति के तंतवा थे। कुम्हार और तंतवा ओबीसी की जातियां हैं। पर सरभंग संप्रदाय के कवियों में सर्वाधिक ख्याति टेकमनराम को मिली। टेकमनराम चंपारण जिले में धनौती नदी के तट पर स्थित झखरा के निवासी थे। वे जाति के लोहार थे और राजमिस्त्री का काम किया करते थे।'

राजेंद्र प्रसाद सिंह के अनुसार 'दलित धारा के संप्रदायों का सिद्धांत-पक्ष एवं व्यवहार-पक्ष ओबीसी धारा के संप्रदायों से मिलता-जुलता है, कारण कि दलित धारा एवं ओबीसी धारा के संप्रदायों का मुख्य उद्देश्य जातिविहीन समाज की स्थापना करना था, जबकि ब्राह्मणवादी संप्रदाय छद्म रूप से जातिवाद को बढ़ावा दे रहे थे।'

राजेंद्र प्रसाद सिंह का यहां सारगर्भित चिंतन ही नहीं उभरता है बल्कि संस्कृति और साहित्य के वे गंभीर अध्येता भी रहे हैं। सिद्ध साहित्य से लेकर आधुनिक काल के सवर्ण कवियों, लेखकों के बारे में वे गहरे तर्क करते हैं। बहुजन समाज के लेखकों तथा शिक्षाविदों को साहित्य संबंधी जानकारी सुलभ कराते हैं इस आशय से कि वे भी ब्राह्मणवादी लेखकों तथा चिंतकों से कम नहीं है!

पुस्तक में बजरंग बिहारी तिवारी, वीरेंद्र यादव, देवेंद्र चौबे तथा अमरेंद्र कुमार शर्मा बहुजन साहित्य या ओबीसी साहित्य के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए दिखते हैं। बजरंग बिहारी तो ओबीसी साहित्य पर सीधे-सीधे जातिवादी लेबल लगाते हैं। जबकि देवेंद्र चौबे और अमरेंद्र कुमार शर्मा घुमा-फिरा कर अपनी बात कहते हैं। लेकिन सुधीश पचौरी का व्यंग्य इस पुस्तक में छापने का संपादक का क्या औचित्य रहा, यह मेरी समझ के बाहर की बात है। हो सकता है संपादक की समझ में आया हो।

वरिष्ठ साहित्यकार और चिंतक चौथीराम यादव ने पुस्तक में शामिल अपने आलेख में ओबीसी नायकों का गंभीरता से रेखांकन किया है। आलेख के शुरुआत में ही वे लिखते हैं, 'हमारे देश में जितने भी सांस्कृतिक आंदोलन हुए, उनमें ओबीसी नायकों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। सामाजिक परिवर्तन में उनके योगदान को नकारना बेमानी होगा। बहुजन समाज के प्रवक्ता और आधार स्तंभ दोनों आंबेडकर रहे हैं। इसके मद्देनजर अगर आंबेडकर से पहले के ओबीसी नायकों पर बात की जाए तो उन्होंने दलित आंदोलन के जरिए जो सबसे पहला काम किया, वह धार्मिक वर्चस्व को तोड़ने का था। चूंकि तब समाज में जाति, धर्म, संप्रदाय की श्रेष्ठता के बोध तले ब्राह्मणवादी व्यवस्था कायम थी, इसलिए सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषमता बहुत बुरी तरह फैली हुई थी। ओबीसी समाज से जो नायक निकले, उन्होंने इस विषमता को तोड़ने के लिए ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के खिलाफ आवाज उठाई। चूंकि ब्राह्मणवादी विचारधारा की पोषक सामंतवादी व्यवस्था होती है, इसलिए सामाजिक विषमता को खत्म करने के लिए इसके खिलाफ आवाज उठनी भी जरूरी थी। ब्राह्मणवाद वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करने के साथ-साथ मनुष्य के ऊपर मनुष्य की श्रेष्ठता का समर्थन करता था और आदमी को आदमी से अलग करता था। इसी कारण धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ आंदोलन की जरूरत महसूस हुई।' इस बारे में वे जोतीबा फुले, शाहूजी महाराज, पेरियार, ललई सिंह यादव तथा रामस्वरूप वर्मा आदि का संदर्भ देते हैं। इसी आलेख में वे बताते हैं कि कोल्हापुर के राजा शाहूजी महाराज ने कैसे अपने राज्य में सबसे पहले दलितों-पिछड़ों के लिए 51 प्रतिशत आरक्षण देकर हर क्षेत्र में समतामूलक समाज की स्थापना की शुरुआत की। इसी तरह से हरिनारायण ठाकुर अपने आलेख में ओबीसी साहित्य का स्वागत करते हुए इसके अच्छे भविष्य की संभावना व्यक्त करते हैं। वहीं जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं, 'इससे अच्छी कोई बात नहीं हो सकती कि असमानता, अन्याय, अस्पृश्यता और शोषण के विरुद्ध दलित और ओबीसी सबकी एक सामूहिक आवाज हो। महत्वपूर्ण होगा कि ओबीसी लेखक ब्राह्मणवादी-सामंतवादी साहित्य और साहित्यकारों के प्रभाव और छाया से बाहर निकलें।'

'बहुजन साहित्य की प्रस्तावना' पुस्तक में अन्य आलेख अश्विनी कुमार पंकज, कंवल भारती, मुसाफिर बैठा, अरविंद कुमार, संजीव चंदन, अनिता भारती, संदीप मील, वामन मेश्राम, अरुंधति राय आदि के हैं। जिन्होंने बहुजन साहित्य के पक्ष में अपने तर्क दिये हैं। वहीं डॉ गंगा सहाय मीणा का 'आदिवासी साहित्य विमर्श - चुनौतियां और संभावनाएं' भी हैं। इनके अलावा शरण कुमार लिंबाले तथा राजेंद्र यादव के साक्षात्कार भी पुस्तक में दिए गए हैं।

पुस्तक के आखिर में (यानी पृष्ठ 121 से 123 तक), 'सिर्फ द्विजों में ही होती है साहित्यिक प्रतिभा?' के तहत ज्ञानपीठ अवार्ड और साहित्य अकादमी से नवाजे गए द्विजों की सूची दी गई है, जो आंखे खोल देने वाली है कि कैसे सवर्ण जाति के अधिकांश चतुर, चालाक और बेईमान साहित्यकारों, चिंतकों ने बड़ी राशि के पुरस्कारों को हड़पा है।

पुस्तक में कुल मिलाकर इतिहास भी है और राजनीति भी। साथ ही कुटिल सवर्ण समीक्षकों की कलाकारी भी, कैसे वे शब्दों से खेलते हैं। अंत में धूमिल को याद करते हुए कहूंगा किः

कुछ शब्द तैयार करते हैं
कुछ शब्दों की खाते हैं
पर एक वे हैं
जो न शब्द तैयार करते हैं
और न शब्दों की खाते हैं
वे सिर्फ शब्दों को
स्टील के खांचों में
उबलती हुई धातु के रूप में
गिरते देखते हैं
वे ही शब्दों से संस्कृति का विकास करते हैं
और संस्कृति से
आदमी को जातियों के खानों
में बैठाते हैं।

सभ्यों के खिलाफ बौद्धिक उलगुलान

प्रमोद मीणा

दलित चिंतक

संपर्क :
सह-आचार्य, हिंदी विभाग, मानविकी और भाषा संकाय, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, जिला स्कूल परिसर, मोतिहारी, जिलाः पूर्वी चंपारण, पिन- 845401 (बिहार)

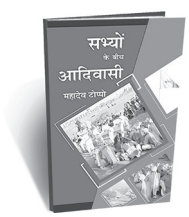

पुस्तकः
सभ्यों के बीच आदिवासी
लेखकः
महादेव टोप्पो
प्रकाशकः
अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठः 248
मूल्यः ₹ 250

महादेव टोप्पो की पुस्तक 'सभ्यों के बीच आदिवासी' विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गए उनके लेखों का संकलन है। मूलतः आदिवासी कवि के रूप में जाने जानेवाले टोप्पो 'सभ्यों' के बीच अपने विद्वान होने का दावा नहीं करते अपितु वे तो स्वयं को साक्षर मात्र बताते हैं। यह लेखक की विनम्रता है कि आज आदिवासी विमर्श के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में स्थापित हो चुकने के बाद भी वे विशेषज्ञता और महानता के किसी भी प्रकार के अहंकार से दूर हैं। वे अपने इन लेखों के माध्यम से सभ्य कहे जाने वाले समाज के सामने विभिन्न विषयों पर एक आदिवासी के रूप में अपने विचार और मत रखने की कोशिश करते हैं।

महादेव टोप्पो की पुस्तक 'सभ्यों के बीच आदिवासी' विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गए उनके लेखों का संकलन है। मूलतः आदिवासी कवि के रूप में जाने जानेवाले टोप्पो 'सभ्यों' के बीच अपने विद्वान होने का दावा नहीं करते अपितु वे तो स्वयं को साक्षर मात्र बताते हैं। यह लेखक की विनम्रता है कि आज आदिवासी विमर्श के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में स्थापित हो चुकने के बाद भी वे विशेषज्ञता और महानता के किसी भी प्रकार के अहंकार से दूर हैं। वे अपने इन लेखों के माध्यम से सभ्य कहे जाने वाले समाज के सामने विभिन्न विषयों पर एक आदिवासी के रूप में अपने विचार और मत रखने की कोशिश करते हैं। वे उन संभ्रांत साहित्यकारों से अलग हैं जो रोजमर्रा के जीवन के वास्तविक मुद्दों पर लिखना साहित्य की पवित्रता और अलौकिकता की तौहीन मानते हैं।

यह पूरी पुस्तक आदिवासी समाज के वर्तमान जीवन संघर्ष और विभिन्न मुद्दों पर उनके दृष्टिकोण को, उनकी राय को मध्यभारत के आदिवासी समाज के संदर्भ में सामने लाती है। लेखक की कोशिश रही है कि जल-जंगल-जमीन-जबान और जमीर को बचाने की जद्दोजहद में लगे आदिवासियों का हर मुद्दा इस पुस्तक में रखा जाए। एक प्रकार से कह सकते हैं कि लेखक ने आदिवासी जीवन को समग्रता से प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इस पुस्तक के पहले खंड में समाज, इतिहास और अर्थशास्त्र के उन प्रसंगों पर तो प्रकाश डाला ही गया है जो आदिवासियों से सीधे-सीधे जुड़े हुए हैं किंतु साथ ही व्यापक समाज से ताल्लुक रखने वाले विषयों पर भी एक आदिवासी की नजर से रोशनी डाली गई है। महादेव टोप्पो ने हिंदी पाठकों की सिकुड़ती दुनिया की कमजोर नस भी इस पुस्तक में पकड़ी है। उन्होंने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि हिंदी लेखकों को अपने पाठक पहचानने होंगे और उनकी अपेक्षाओं एवं समस्याओं के अनुरूप ही अपनी कलम को साधना होगा। इसीप्रकार आदिवासियों की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में आते बिखराव को रोकने में भी आप किताबों को एक समाधान के रूप में देखते हैं। गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों को पिछड़ा-जाहिल घोषित करने वाले बौद्धिक आक्रमण के जवाब में भी आदिवासियों को सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-मानसिक रूप से जागरुक और मजबूत करने में किताबों का महत्व असंदिग्ध है। यह पुस्तक आदिवासियों के कुचले जाते आत्मसम्मान के विरुद्ध एक बौद्धिक उलगुलान का हरकारा है। उनका स्पष्ट मानना है कि शारीरिक श्रम करने वाले अनपढ़ आदिवासी समाज को भी अकुशल, बुद्धू, गंवार, जंगली और जाहिल नहीं कहा जा सकता।

दूसरे खंड में भाषा, साहित्य और संस्कृति को लेकर एक जागरुक और संवेदनशील आदिवासी की चिंताएं हमारे सम्मुख आती हैं। टोप्पोजी शिष्ट कहे जाने वाले साहित्य की जातीय सीमा रेखांकित करते हुए आदिवासी साहित्य का महत्व सबको साथ लेकर चलने, संपूर्ण मानवता की चिंता करने वाली इसकी समग्रता में देखते हैं। हिंदी के आदिवासी साहित्य की विकासात्मक परंपरा बताते हुए वे गैर आदिवासी लेखकों के योगदान का उल्लेख करना भी नहीं भूलते। हिंदी क्षेत्र के पुस्तक मेलों में होती लेखकों और पाठकों की उपेक्षा विशेषतः आदिवासी लेखकों और पाठकों की उपेक्षा को ये पढ़ने-लिखने की संस्कृति के मार्ग में अवरोध के रूप में पाते हैं।

पुस्तक के तृतीय खंड में आदिवासी गीत-संगीत के समक्ष आधुनिक मनोरंजन उद्योग द्वारा पैदा की जा रही चुनौतियों और संभावनाओं का विवेचन सोदाहरण किया गया है। सीडी/कैसेट की जो मार ढोल, मांदर और बांसुरी पर पड़ी है, उसके कारण आदिवासी युवक-युवती में घर करती कृत्रिमता और यांत्रिकता ने नई आदिवासी पीढ़ी को जिस प्रकार से आदिवासी संस्कृति की सृजनात्मकता से दूर कर दिया है, उससे टोप्पो जी व्यथित दिखते हैं। अपने आदिवासी समाज को आप संदेश देते हैं कि वे बंगला समाज की तरह अपने गीत-संगीत की परंपरा का संरक्षण करें क्योंकि अगर आदिवासी नाचना, गाना और बजाना भूल गए तो अपना अस्तित्व भी नहीं बचा पाएंगे। आदिवासी गीत, संगीत और

नृत्य की सामूहिकता और अनुशासन को भी इन्होंने चिह्नित किया है।

अगला खंड सिनेमा और कला पर है जिसे तृतीय खंड का पूरक भी कहा जा सकता है। ध्यातव्य है कि महादेव टोप्पो ने शौकिया तौर पर कुछ आदिवासी दस्तावेजी फिल्मों में भी कलाकार के रूप में काम किया है अतः आदिवासी विमर्श की दृष्टि से इस उभरते वैकल्पिक माध्यम को वे निकटता से देखते रहे हैं। आदिवासी भाषाओं में बनने वाली विभिन्न झारखंडी फिल्मों का एक संतुलित विवेचन इस खंड में हुआ है, जैसे नागपुरी फिल्मों 'बाहा'। मुख्यधारा की फिल्मों में प्रस्तुत की जाने वाली आदिवासियों की विकृत छवियों की आपने आलोचना भी की है। बॉलीवुड की तर्ज पर उभरते झाड़वुड की फिल्मों से आपको विशेष उम्मीद नहीं है किंतु झारखंड के आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं को उठाती मेघनाथ, श्रीप्रकाश और बाजू टोप्पो की दस्तावेजी फिल्मों से आप प्रभावित दिखते हैं। नए उभरते आदिवासी फिल्मकार जिस प्रकार से प्रतिबद्धता के साथ आदिवासी जीवन को उकेर रहे हैं, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है भी।

खेल आदिवासी जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग रहे हैं अतः बिना खेलों के आदिवासी जीवन और संस्कृति की चर्चा अधूरी रहती है। आदिवासी चाहे आधुनिक खेल तकनीक से परिचित न हों लेकिन जब-जब किसी आदिवासी खिलाड़ी को मौका मिला है, तब-तब उसने किसी भी गैर आदिवासी खिलाड़ी से कमतर खेल नहीं दिखाया है। ओलंपिक में खेलने वाली भारतीय हॉकी टीम के पहले कप्तान जयपाल सिंह मुंडा से लेकर अंतरराष्ट्रीय हॉकी खिलाड़ी दिलीप तिर्की तक कितने ही खिलाड़ी गिनाए जा सकते हैं। पुस्तक के पांचवें खंड में झारखंड के आदिवासी इलाकों से उभरने वाली खेल प्रतिभाओं और उनके सामने आने वाली चुनौतियों का विश्लेषण किया गया है। महादेव टोप्पो ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित विद्यालयों और महाविद्यालयों के योगदान को भी इस संदर्भ में याद करते हैं। यहां उनके अंदर का खेल प्रेमी आदिवासी साफ देखा जा सकता है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पग-पग पर जूझने वाले आदिवासी जहां खेलों की दृष्टि से मजबूत कद-काठी के होते हैं, वहीं उनमें मिलने वाली सामूहिकता टीम खेल के लिए उन्हें विशेष रूप से सक्षम बना देती है।

किसी भी अन्य जागरुक आदिवासी की तरह महादेव टोप्पो के संवेदनशील मन को भी यह बात कचोटती है कि देश में एक बड़ी आबादी आदिवासियों की होने पर भी मुख्यधारा के अखबारों और पत्रिकाओं में आदिवासी जीवन से जुड़े विषय अपना स्थान नहीं बना पाते। अतः इस पुस्तक का छठवां खंड उन्होंने पत्रकारिता पर ही रखा है। इसमें उन्होंने आदिवासियों के नाम पर बने झारखंड में हिंदी अखबारों द्वारा गैर आदिवासी भाषा भोजपुरी को थोपने और आदिवासी भाषाओं की उपेक्षा को लेकर कुछ ज्वलंत सवाल उठाए हैं। उन्होंने पूर्वोत्तर के अंग्रेजी अखबारों द्वारा स्थानीय आदिवासियों की बोली-भाषा को महत्व दिए जाने की प्रशंसा भी की

महादेव टोप्पो की किताब 'सभ्यों के बीच आदिवासी' न सिर्फ आदिवासी समाज और संस्कृति से जुड़े मुद्दों को उठाती है अपितु देश-दुनिया से जुड़े व्यापक सरोकारों को भी अपने चिंतन का विषय बनाती है। यह पुस्तक हमें दिखाती है कि एक आदिवासी भी अपने आसपास के परिवेश, अपने समाज और अपने अड़ोस-पड़ोस को लेकर कुछ सोचता और महसूस करता है।

है। उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर यह भी बताने का प्रयास किया है कि स्थानीय आदिवासी समुदायों की भाषा-बोली, संस्कृति और ज्ञान आदि को बचाने के लिए मीडिया विशेषतः प्रिंट मीडिया क्या कर सकती है।

प्रायः आदिवासियों के बारे में सभ्य समाज के लोगों में यह रूढ़ धारणा मिलती है कि ये लोग जंगली और पिछड़े होते हैं। सभ्य समाज यह मानकर चलता है कि आदिवासी समाज सभ्यता-संस्कृति की आदिम अवस्था में ही पड़ा हुआ है और वह किसी भी प्रकार की तरक्की का विरोधी है। महादेव टोप्पो की इस पुस्तक का सातवां खंड तकनीकी विकास की दृष्टि से आदिवासियों को आदिम, पिछड़ा और प्रगति विरोधी मानने का खंडन करता है। वे इस खंड के अपने लेखों में बताते हैं कि आदिवासी समाज कोई यथास्थितिवादी जड़ समाज नहीं है। वह भी विकास चाहता है लेकिन उसके विकास की परिभाषा और पैमाने अलग हैं। टोप्पो जी आदिवासियों की जरूरत के मुताबिक तकनीक के विकास और इस्तेमाल की आवश्यकता रेखांकित करते हैं। उदाहरण के लिए वे अपने एक लेख में कहते हैं कि आदिवासियों को लखटकिया नैनो कार नहीं बल्कि लखटकिया नैनो ट्रैक्टर चाहिए। वे अपने आदिवासी समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप कम्यूकेटर आदि के देशज इस्तेमाल की जरूरत बताते हैं।

पुस्तक का अंतिम खंड उनलोगों की स्मृतियों को संस्मणों के रूप में सहेजता है जिन्होंने आदिवासी समाज और उसके संघर्षों को निकटता से देखा और कलमबद्ध किया है अथवा जिन्होंने लेखक के रूप में महादेव टोप्पो को लिखने-पढ़ने की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। स्वानुभूति और सहानुभूति के द्वंद्व से इतर मुक्त हृदय से टोप्पो जी ने आदिवासी विमर्श में योगदान देने वाले गैर आदिवासियों को भी याद किया है, जैसे मंजीत सिंह संधू, प्रभाष जोशी, डॉ. कामिल बुल्के और रामशरण जोशी आदि पर लिखे गए संस्मरण।

टोप्पो जी द्वारा आयोजित एक परिचर्चा भी पुस्तक में है जो परिशिष्ट सरीखी लगती है जिसमें संजीव, कर्मेंदु शिशिर और बासुदेव बेसरा इस विषय पर अपना-अपना मत रखते हैं कि आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो। संजीव हमें उन लेखकों और पत्रकारों से आगाह करते हैं जो आदिवासी साहित्य को एक नए शिकारगाह के रूप में देखते हैं। कर्मेंदु शिशिर आदिवासी भाषाओं और साहित्य के सामने दीवार बनकर खड़े भाषाई साम्राज्यवाद की चुनौती का विवेचन करते हैं। बासुदेव बेसरा को भी महादेव टोप्पो की जैसे सरकारी अकादमियों द्वारा की जा रही आदिवासी भाषाओं की उपेक्षा खलती है।

अस्तु 'सभ्यों के बीच आदिवासी' शीर्षक पुस्तक न सिर्फ आदिवासी समाज और संस्कृति से जुड़े मुद्दों को उठाती है अपितु देश-दुनिया से जुड़े व्यापक सरोकारों को भी अपने चिंतन का विषय बनाती है। यह पुस्तक हमें दिखाती है कि एक आदिवासी भी अपने आसपास के परिवेश, अपने समाज और अपने अड़ोस-पड़ोस को लेकर कुछ सोचता और महसूस करता है और उसका यह सोचना-महसूस करना शेष समाज से कुछ अलहदा अस्तित्व. रखता है, कुछ विकल्प पेश करता है। महादेव टोप्पो का यह हस्तक्षेप साबित करता है कि आदिवासी भी अपना भला-बुरा जानता है, उसमें भी प्रतिभा की कोई कमी नहीं है। जरूरत सिर्फ एक मौके की है, एक मंच की है।

वास्तव में अब समय आ गया है कि जब सभ्यता-समीक्षा के मापदंड हमें बदलने होंगे। सभ्य लोगों के इतिहास से साजिशन गायब कर दिए गए आदिवासी अब इतिहास की गहन अंधेरी काली गुहाओं से निकलकर पाठ्यजगत के बंद दरवाजे भी खटखटाने लगे हैं। वे साक्षर होने के बाद दूसरों का लिखा पढ़ते रहना छोड़ स्वयं कलम चलाने की जिद करने लगे हैं। यह पुस्तक एक ऐसे ही जिद्दी आदिवासी लेखक की लिखावट है। हो सकता है कि 'सभ्यों' को इस लिखावट में अनगढ़पन लगे, वे इसे वैसे ही लें जैसे प्रथम श्रेणी के वातानुकूलित डिब्बे में घुस आए किसी ग्रामीण आदिवासी को लिया जाता है। लेकिन 'सभ्यों' के बीच इस आदिवासी लेखक को हुए अनुभवों का अपना एक अलग महत्व है और यह महत्व 'सभ्यों' के लिए भी अहमीयत रखता है। बकौल संजीव खुद की मुक्कमल पहचान के लिए अपनी नजर के साथ दूसरे की नजर भी चाहिए।

डायरी

काल के कैनवस पर लोक चेतना की कूची

महेश कटारे

कथाकार

संपर्क :
निराला नगर, सिंहपुर रोड
मुरार, ग्वालियर -474006
(म.प्र.)

लीलाधर मंडलोई का लिखा एक प्रकार से लोक-चेतना का अंतरराष्ट्रीयता के बीच संतरण है। नई कृति 'दिनन दिनन के फेर' जिसे 'तिथिहीन डायरी समुद्दिष्ट किया गया है, इसमें तिथि और घटित का वर्णन न होकर सोचे का लेख है- स्मृति में कुरेद का वाचन वा कथन। रहीम की प्रसिद्ध पंक्ति है- 'रहिमन चुप बैठिए देखि दिनन का फेर।' इसमें चुप होना निष्क्रिय होना न होकर उचित समय की तैयारी के लिए धैर्य का संकेत है। निराला की भी पंक्ति है कि हार पर हार के बाद 'वह एक और मन रनहा राम का जो न थका।' इन पंक्तियों का सकारात्मक आशय जीवन के घटते सुख-दुख, हार और अवसाद के बीच अपना उद्यम तय करने का संबल देता है। तिथिहीनता इस डायरी को कालखंड विशेष के घेरे से आगे दिनन के विस्तार में ले जाती है कि उपस्थित धुंध से आगे उजाला भी होता ही है।

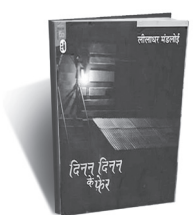

पुस्तक:
दिनन दिनन के फेर
लेखक:
लीलाधर मंडलोई
प्रकाशक:
साहित्य भंडार, 50 चाहचंद
इलाहाबाद
मूल्य: ₹ 400

लीलाधर मंडलोई का लिखा एक प्रकार से लोक-चेतना का अंतरराष्ट्रीयता के बीच संतरण है। नई कृति 'दिनन दिनन के फेर' जिसे 'तिथिहीन डायरी समुद्दिष्ट किया गया है, इसमें तिथि और घटित का वर्णन न होकर सोचे का लेख है- स्मृति में कुरेद का वाचन वा कथन। रहीम की प्रसिद्ध पंक्ति है- 'रहिमन चुप बैठिए देखि दिनन का फेर।' इसमें चुप होना निष्क्रिय होना न होकर उचित समय की तैयारी के लिए धैर्य का संकेत है। निराला की भी पंक्ति है कि हार पर हार के बाद 'वह एक और मन रनहा राम का जो न थका।' इन पंक्तियों का सकारात्मक आशय जीवन के घटते सुख-दुख, हार और अवसाद के बीच अपना उद्यम तय करने का संबल देता है। तिथिहीनता इस डायरी को कालखंड विशेष के घेरे से आगे दिनन के विस्तार में ले जाती है कि उपस्थित धुंध से आगे उजाला भी होता ही है।

मंडलोई अपनी प्रकृति में मूलतः कवि हैं अतः उनका गद्य प्रायः काव्य होता है। कदाचित गद्य में वह तब उतरते हैं जब कोई बात कविता में सधती नहीं या अधूरी लगती है-

'मैं अपनी कविता की तरह/अधूरा हूं
अंतिम पंक्तियों पर बिखर गई है स्याही
मैं अपना पूरा होना
खोजता रहता हूं। (पृ.-16)
अब मुक्तिबोध की पंक्तियों से इन्हें जोड़िए-
पता नहीं कब, कौन, कहां, किस ओर मिले।
फिर वही यात्रा सुदूर की
फिर वही खोज भरपूर की।

ऐसी रचना बेचैनी जो सूर्य की हमजोली होकर ताप को सहना, कराह को सुनना और शब्द देना चाहती है। सौंदर्य के कुछ अलग, नए स्पंदन खोजना और परखना चाहती है- 'मैंने सौंदर्य बोध के अनेक पाठ घर से बाहर पढ़े, जिनमें रस, रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श से लेकर कामानुभूति से परिचय।' रूप, रस, गंध स्पर्शादि ज्ञानेन्द्रियों (की सक्रियता) के विषय तथा कामानुभूति कर्मेन्द्रिय और मन का जो ग्यारहवीं इन्द्रिय है। अर्थात् ऐन्द्रिकता से भावना तक की यात्रा में लेखक ने बहुत कुछ प्रकृति तथा अपने आसपास की दुनिया से पाया है। सौंदर्य की एक वस्तुपरक सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति, जीवन और मनुष्य की चेतना में होती है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं, उसकी प्रतिष्ठा व शास्ति मनुष्य के भाव और विचारों तक होती है। साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का विग्रह या स्वरूप नहीं। उसका भाव तथा इन्द्रिय से घनिष्ठ संबंध है। मंडलोई के यहां मुग्ध, गद्गद् भाव की अपेक्षा संचित व अर्जित जीवनानुभव से भरोसे की चीजें चिह्नित करने की साध है। इन अनुभवों में शामिल है- कुछ बेतरतीब, आधा-अधूरा, कुछ-कुछ कोलाज सा जो दुख, आवेश, क्रोध, घृणा और पश्चाताप से भरा है। पुस्तक में प्रचलित डायरी शैली की दैनिकता से हटकर स्मृतियों का आलोड़न है, जो कहीं कविता है तो कहीं निबंध या संवाद। विधाओं की बेतरतीबी में आकार पता कोई बंदोबस्त, कोई साज-संभार। इस स्वभाव के बारे में लेखक की स्वीकृति है 'मेरा स्वभाव कुछ अलग-अलग है। मैं नर्मदा के इलाके का हूं। हर प्रत्याशा के बरक्स अप्रत्याशित जीने के उदाहरणों की कविता है नर्मदा। अगले क्षण कहां, कौन-सी रचना जन्म लेगी वह नहीं जानती है। पर वह नया होता है। नर्मदा की भांति अपने में रोज नया होने को साबित करती इनकी एक किताब 'दाना पानी' भी डायरीनुमा है और 'दिल का किस्सा' में भी जीवन के उतार-चढ़ाव खाईयां और खंदक हैं... स्मृतियों में आवाजें हैं। वे स्वाद, गंध, स्पर्श हैं जो पेट से जुड़कर जीने की सांसें बढ़ाते हैं। 'जंगल में आम, जामुन, महुआ, अमरूद, बेर, बेल, आंवला, गूलर, इमली, कटहल, रेहू, सहजन, नमी, बरगद आदि थे। इन्हीं पेड़ों के फलों ने गरीबी में साथ दिया।' (पृ.-61) वह प्रकृति को बेर-बेर याद करते हैं चाहे वह कविता

हो, निबंध हो या हो व्याख्यान या वार्ता। प्रकृति की उदारता के इतने कायल कि मां और प्रकृति में कोई भेद नहीं करते। इस किताब में मां गांव से दिल्ली पहुंची है तो अपनी प्रकृति को गांठ में बांधे। आज की अनेक भयानक सच्चाइयों को देखकर किस्सा कहानी समझती है और ऐसे किस्से के सच होने की कल्पना मात्रा से चीखकर अपने गांव लौट जाना चाहती है जहां शहर के आक्रामक प्रवेश के बावजूद मां के लिए अब भी 'स्पेस' बचा है। 'मां, उत्सव और आज' वाली 'बात' में तब और अब का फर्क साफ जाहिर है- सभी घरों के दरवाजे तब खुले मिलते थे। बच्चों के लिए पड़ोसियों की जेबें तंग न थीं/ गरीबों के लिए दया से अधिक प्रेमभाव दीखता था.../ सबके मन में बावजूद अभावों के एक रसभरा साज था।' इसी में बाजारू समय की बात जुड़ जाती है- 'बस तब की तरह अब कोई किसी दुख या दुखी की सुध नहीं लेगा/ यानी त्यौहार से जुड़े मूल्य न होंगे।' (पृ.-83) वजह स्पष्ट है- मां और प्रकृति दोनों बाजारू समय की मार में है।

स्मृतियों की लहर में दोस्त भी उभरते हैं तो पसंदीदा कलाकारों की विशेषताओं का भी स्मरण है। दत्तात्रेय की तरह प्रकृति, पशु, पक्षी, मनुष्य सभी से

लीलाधर मंडलोई अपनी प्रकृति में मूलतः कवि हैं अतः उनका गद्य प्रायः काव्य होता है। कदाचित गद्य में वह तब उतरते हैं जब कोई बात कविता में सधती नहीं या अधूरी लगती है। उनकी नई कृति 'दिनन दिनन के फेर' तिथिहीन डायरी है। डायरी आपबीती होती है और आपबीती में आत्मनिष्ठता होती ही है। मंडलोई इस आपबीती में बार-बार बाहर होकर सामाजिक अंतर्वस्तु में दाखिल होते हैं। हां इतना संयम भी बरतते हैं कि आंखन देखी में कागद की लेखी का तेज मसाला नहीं भरते।

सीखने का चाव। इस बात पर भी ध्यान गए बिना नहीं रहता कि बड़ी बातें जिन्हें विचारक बड़ी जटिलताओं तथा पांडित्यपूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हैं, वह बड़ी सादगी से इस डायरी के पृष्ठों पर आ गई है क्योंकि उन्हें मंडलोई 'कहावतों की जमीन' से उठाते हैं। यह लोक की जमीन है जिससे वह जिज्ञासा के पाठ सीखते हैं- 'इस अकेली यात्रा में 'मैंने महादेव (शैव-दर्शन) को तो नहीं प्रकृति को जाना। तरह-तरह की वनस्पतियां... उनके अनेक रंग। पत्तियों का संगीत। पांख्यिों की मधुर बोलियां। जानवरों की डराने वाली आवाजें। मैंने अपने भय को जाना और साहस को।' (पृ.-42)

इसी प्रकार एक वृत्त या परिलेख में 'घृणा' जैसे कुस्सित भाव की सकारात्मकता को भी परखते हैं- 'मुमकिन है वह उससे घृणा करता हो जो मानवता के खिलाफ है।.. वह धर्म के रास्ते अधर्म होते नहीं देख पाता और घृणा करने लगता है। अपनी घृणा प्रदर्शन से वह समाज को सावधान करना चाहता है। (पृ.-103) यह भी तो है कि लेखक (और हमने भी) अपने तथा सामाजिक जीवन में बेसब्र, भ्रष्ट, प्रजातंत्रा की ढपली बजाकर स्वार्थ साधती राजनीति को अपने आसपास ही नहीं, पेट व पीठ पर चहल कदमी करते भी देखा है।

किताब का अंतिम खंड है- 'यमुना के पुलिन पर।' लगता है कोई यात्रा रही होगी प्रेमपगी। क्योंकि यमुना के तो कुंजन में केलि, कछारन में, बनन में, तट, तमाल तरूवर सभी तो प्रेमरस में पगे होते हैं। वहां रागोच्छ्वास हैं। सांसें सरगम पर उठती गिरती हैं। मंडलोई के यहां भी काव्योच्छ्वास हैं। बांहों का विस्तार बड़ा हो जाता है। पृथ्वी छोटी पड़ने लगती है। लगता है कि कवि ने संवेदना को शब्दों का जामा पहनाया है।

डायरी आपबीती होती है और आपबीती में आत्मनिष्ठता होती ही है। मंडलोई इस आपबीती में बार-बार बाहर होकर सामाजिक अंतर्वस्तु में दाखिल होते हैं। हां इतना संयम भी बरतते हैं कि आंखन देखी में कागद की लेखी का तेज मसाला नहीं भरते। यहां लोक ग्राह्यता के पीछे भाषा की भी विशेष भूमिका है। अर्थ-गांभीर्य को सुरक्षित रखते हुए सहजता को साध पाना कठिन होता है। वह अपने अनुभव में जितने पारदर्शी है, उतने ही अभिव्यक्ति में भी। इसीलिए प्रकृति की उदारता व व्यापक मानवीय भावों से भरे वे विश्वसनीय चित्रा संभव होते हैं जो प्रेम का पाथेय और जीवन-विरोधी स्थितियों में भी जीने की शक्ति दें।

निवेदन

पुस्तक-वार्ता के रचनाकारों को अवगत कराना है कि मानदेय भुगतान के लिए सीधे बैंक खाते में धनराशि स्थानांतरण की व्यवस्था की गई है। आपसे अनुरोध है कि अपने बैंक खाते का पूर्ण विवरण यथा नाम, बैंक और शाखा का नाम, खाता संख्या और आईएफएससी कोड ई-मेल : amitbishwas2004@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।

माटी के कवि त्रिलोचन का स्मरण

अशोक नाथ त्रिपाठी

सहायक प्रोफेसर

संपर्क :
हिंदी एवं तुलनात्मक
साहित्य विभाग
म.गां.अं.हि.वि,
वर्धा -442001 (महाराष्ट्र)

प्रारंभ में उस समय के कवियों की तुलना में त्रिलोचन के रचना कर्म को आलोचकों द्वारा अनदेखा किया गया लेकिन बाद में दृष्टि में परिवर्तन भी दिखाई पड़ा और शिवचंद्र शर्मा ने अपने पत्रिका 'स्थापना' के तीन अंकों में त्रिलोचन को पर्याप्त स्थान दिया। संपादक की इच्छा थी कि इसे पंद्रह अंक तक निकाला जाए पर यह किसी कारणवश तीन अंक ही निकल सकी। हालांकि संपादक ने यह घोषणा की थी कि अगर सामग्री का अभाव नहीं होगा तो सभी अंक त्रिलोचन पर केंद्रित होंगे। बाद में नामवरजी के कुशल संपादन में आलोचना का त्रिलोचन अंक प्रकाशित हुआ। अपने संपादकीय में नामवरजी ने कहा है कि त्रिलोचन की कविता को समझने के लिए 'नए काव्यशास्त्र की जरूरत' है।

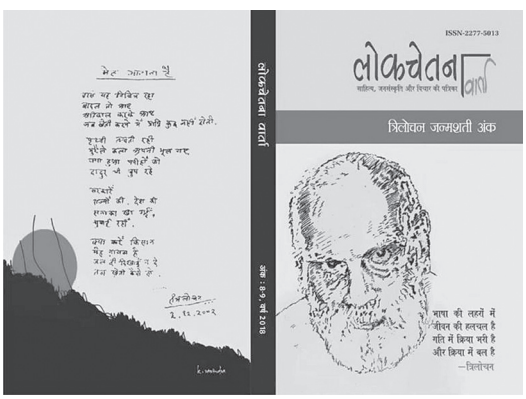

लोकचेतना वार्ता

लोकचेतना वार्ता का प्रस्तुत अंक त्रिलोचन के जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया गया है। इस महत्वपूर्ण अंक के संपादन के दायित्व का निर्वहन रविरंजन द्वारा किया गया है। अपने संपादकीय 'मर्म जो समझे कहे पहले वही उस्ताद था!' में त्रिलोचन के संदर्भ में तमाम महत्वपूर्ण सूचनाएं दी गई हैं। मसलन उनका पहला संग्रह 'धरती' का प्रकाशन 1945 में हुआ। उस समय से 2005 तक त्रिलोचन लगभग रचना कर्म में रत रहे। यहां पर वह एक चिंता और एक संदर्भ भी जोड़ते हैं, चिंता तो लगभग सभी पाठक समुदाय की है।

प्रारंभ में उस समय के कवियों की तुलना में त्रिलोचन के रचना कर्म को आलोचकों द्वारा अनदेखा किया गया लेकिन बाद में दृष्टि में परिवर्तन भी दिखाई पड़ा और शिवचंद्र शर्मा ने अपने पत्रिका 'स्थापना' के तीन अंकों में त्रिलोचन को पर्याप्त स्थान दिया।

संपादक की इच्छा थी कि इसे पंद्रह अंक तक निकाला जाए पर यह किसी कारणवश तीन अंक ही निकल सकी। हालांकि संपादक ने यह घोषणा की थी कि अगर सामग्री का अभाव नहीं होगा तो सभी अंक त्रिलोचन पर केंद्रित होंगे।

बाद में नामवरजी के कुशल संपादन में आलोचना का त्रिलोचन अंक प्रकाशित हुआ। अपने संपादकीय में नामवरजी ने कहा है कि त्रिलोचन की कविता को समझने के लिए 'नए काव्यशास्त्र की जरूरत' है।

इस पत्रिका के 'त्रिलोचन पाठ' स्तंभ में उनकी पांच कविताएं पाठकों को आकर्षित करती हैं साथ ही अरुण कमल एवं रविरंजन की सार्थक टिप्पणी इस स्तंभ को और रोचक बना देता है मसलन त्रिलोचन की 'सोलह आने' कहानी पर विचार करते हुए अरुण कमल ने इसका शीर्षक दिया है भूख की कहानी 'सोलह आने'।

इसमें वह यह मानते हैं कि इस कहानी में गरीबी, बेरोजगारी, एक गरीब आदमी के जीवट व्यक्तित्व को सामने लाने का प्रयास किया गया है। इसी संक्षिप्त टिप्पणी में इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि इसमें कुछ आत्मकथात्मक तत्व भी दिखाई पड़ते हैं। त्रिलोचन अपनी कहानी 'सोलह आने' में जीवन की वास्तविकता से रूबरू कराते दिखाई पड़ते हैं।

रवि रंजन ने 'आलोचक त्रिलोचन' शीर्षक से अपनी बात कही है। उनका कहना है कि त्रिलोचन मानते थे कि आलोचना कर्म में भाषा की महती भूमिका होती है। आलोचक को उचित भाषा का व्यवहार करना चाहिए क्योंकि अगर आलोचना की भाषा समझ में ना आए तो उस आलोचना का कोई महत्व नहीं। त्रिलोचन अपने आलोच्य कर्म में भाषा को लेकर अत्यंत सजग दिखाई पड़ते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'तुलसी बाबा भाषा मैंने तुमसे सीखी/मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो'

पत्रिका के प्रस्तुत अंक में त्रिलोचन की आलोचना कर्म के कुछ नमूने जैसे 'काव्य और अर्थ-बोध', 'जनभाषा और काव्यभाषा' तथा 'नव्य काव्य परिवेश और उसका भविष्य' महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

त्रिलोचन ने लोक संस्कृति को भी पर्याप्त महत्व प्रदान किया है और वह मानते थे कि लोक संस्कृति को देखना उसके अनुसार व्यवहार करना अत्यंत कठिन काम है। अपने आलेख 'आग पर चलने की बात' में लोक व्यवहार के कई नमूने प्रस्तुत करते हैं।

इस पत्रिका के बातचीत नामक स्तंभ में केदारनाथ सिंह एवं उषा वर्मा से त्रिलोचन की बातचीत है। इन साक्षात्कारों से गुजरते हुए एक कवि त्रिलोचन से सभी की बातचीत होती है और दूसरी ओर त्रिलोचन गद्य पर भी कुछ विचार करते हैं। उषा वर्मा के एक सवाल पर 'क्या कविता का कोई भविष्य हो सकता है अथवा आपने इसे प्रयोग के रूप में लिया है? इस सवाल के उत्तर में त्रिलोचन यह बताते हैं कि गद्य की भी एक भाषा होती है और कविता की भी। उनका यह मानना है कि कहानी भी समझ में आने पर एक कविता होती है।

स्मृति में त्रिलोचन स्तंभ के अंतर्गत विश्वनाथ त्रिपाठी, अशोक वाजपेयी, रमेश चंद्र शाह, काशीनाथ सिंह, अब्दुल बिस्मिल्लाह, राजेश जोशी, दिविक रमेश जैसे वरिष्ठ साहित्यकारों ने त्रिलोचन को याद करने का प्रयास किया है।

पत्रिका के पुनर्पाठ नामक स्तंभ में गजानन माधव मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, चंद्रबली सिंह कपिल मुनि तिवारी ने त्रिलोचन की रचनात्मकता से गुजरते हुए अपनी बात की है।

'धरती' काव्य संग्रह की समीक्षा करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि इस संग्रह में कब की अनुभूतियां अत्यंत संयमित ढंग से दिखाई पड़ती है वह यह भी मानते हैं कि कविताओं में जीवन की कठोर वास्तविक अदाएं दिखाई पड़ती हैं।

शमशेर बहादुर सिंह अपने आलेख में बताते हैं कि त्रिलोचन में संयम की अपार अटूट अतुलनीय शक्ति है। इसी तरह रामविलास शर्मा त्रिलोचन पर टिप्पणी करते हुए मानते हैं कि त्रिलोचन ऐसे आधुनिक कवि हैं जो आधुनिकता के तमाम साथियों को खारिज भी करते हैं। त्रिलोचन की कविताएं समकालीन बोध की सुपरिचित परिधि को तोड़ती हैं।

कसौटी नामक स्तंभ में राधावल्लभ त्रिपाठी, अवधेश प्रधान, अजय तिवारी, अष्टभुजा शुक्ल, रणजीत कुमार सिन्हा जैसे तमाम विचारकों ने त्रिलोचन को उनके रचना कर्म के माध्यम से अपनी बात रखी है।

इस तरह त्रिलोचन आलोचकों की दृष्टि में लगभग उपेक्षित रहे लेकिन लोक चेतना वार्ता का त्रिलोचन जन्मशताब्दी अंक इस रिक्तता को भरने में काफी समर्थ प्रतीत होता है। इसमें तीन पीढ़ियों के लोग त्रिलोचन के रचना कर्म पर सारगर्भित बातचीत करते दिखाई पड़ते हैं। इस आकर्षक संयोजन के लिए संपादक साधुवाद के पात्र हैं।

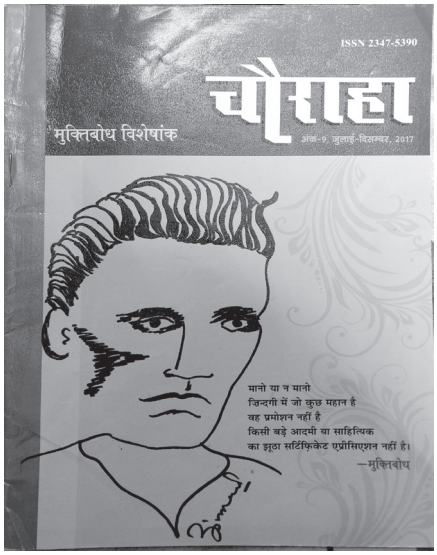

चौराहा (जुलाई-दिसंबर, 2017)

अंजना वर्मा के संपादन में चैराहा का प्रस्तुत अंक मुक्तिबोध विशेषांक के रूप में है। इस पत्रिका के कवर पृष्ठ पर मुक्तिबोध की काफी प्रेरक पंक्ति उद्धृत की गई है। 'मानो या न मानो/ जिंदगी में जो कुछ महान है/वह प्रमोशन नहीं है/ किसी बड़े आदमी या साहित्यिक/का झूठा सर्टिफिकेट एप्रीसिएशन नहीं है।' दरअसल मुक्तिबोध इतने मौजूं कवि हैं कि उनको प्रायः सभी संदर्भों में एक साथ देखा जा सकता है। प्रस्तुत अंक उनके अवदान को देखने का एक संक्षिप्त माध्यम है। इस अंक का संपादन अंजना वर्मा ने किया है। अपने संपादकीय में वह यह मानती हैं कि मुक्तिबोध की रचना यात्रा में उनकी संवेदनाएं घनीभूत होकर फैंटेसी में परिवर्तित होती गई हैं। वे यह भी मानती हैं कि मुक्तिबोध की रचनाएं संवेदना की भूमि से चिंतन की भूमि की यात्रा करती हैं जब वहां उचित स्थान नहीं दिखाई पड़ता है तो वे पुनः फैंटेसी की ओर मुड़ती हैं। यह कहना बहुत अनुचित नहीं होगा कि मुक्तिबोध ने मनुष्य के समाज की आंतरिक छानबीन भी की है। वे इस बात की तरफ ध्यान दिलाना चाहती हैं कि मुक्तिबोध के चिंतन सृजन के कई सोपान हैं, सिर्फ उन्हें मार्क्सवादी नजरिए से देखना एकांगी अवलोकन माना जाएगा। इस पत्रिका में मुक्तिबोध की रचनात्मकता को ध्यान में रखते हुए 'अँधेरे में' की रोशनी', 'मुक्तिबोध के आलोचना-सिद्धांत', 'गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्ययात्रा', 'मुक्तिबोध की अनंत आत्मीयताओं और चिंतन का प्रतिफलन', मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया और कला के तीन क्षण', नामक पांच आलेख संकलित किए गए हैं। वेदप्रकाश दुबे अपने आलेख 'मुक्तिबोध के आलोचना-सिद्धांत' के हवाले यह कहना चाहते हैं कि उनके आलोचना सिद्धांत जितने साहित्य केंद्रित थे उतने ही मानव मूल्य केंद्रित, समाज केंद्रित और जन केंद्रित भी। वे मुक्तिबोध के हवाले इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि समीक्षा के मूल उत्स जीवन के ताजुर्वे में है। उनका यह मानना है कि मुक्तिबोध अपने समीक्षा कार्य में समीक्षक की भूमिका को लेखक के दायित्व से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। राजेंद्र परदेशी अपने आलेख 'गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्य यात्रा' शीर्षक से अपनी बात रखते हुए यह बताना चाहते हैं कि मुक्तिबोध की कविताओं में एक कथा तत्व भी होता है जिसे उनके भावों और विचारों के इतिहास के रूप में भी देखा जा सकता है। दरअसल मुक्तिबोध के मन में वर्तमान व्यवस्था के प्रति बहुत सहज भाव नहीं था इसलिए वह इसे स्वीकार न करते हुए इसे उखाड़ फेंकना चाहते थे, इस प्रकार की तमाम अनुभूतियां उनकी कविताओं में कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं। मुक्तिबोध के अंदर अनुभूति की गहराई का आकलन इतना आसान नहीं है, इसे सामान्य गागर में नहीं समेटा जा सकता था। मुक्तिबोध तुकबंदी के पक्ष में नहीं थे लेकिन काव्य सृजन के दौरान कहीं-कहीं रचना में यदि तुक बन ही जाता था तो वे इसे स्वीकार भी करते थे-मुझे मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर/में चमकता हीरा है/हर एक छाती में आत्मा अधीरा है/प्रत्येक सुस्मित में विमल विमल सदा नीरा है। मुक्तिबोध के बिंब को ध्यान में रखकर बात करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि उनके बिंब निजी दृष्टि से प्रेरित हैं और प्रतीक भी जटिल नहीं हैं। रावण के पौराणिक प्रतीक के माध्यम से मुक्तिबोध की चिंता से रूबरू होते हुए कहते हैं कि हमारा मन भी काठ के रावण की तरह हो गया है, यह परंपराओं को स्वीकार कर खोखला होकर रह गया है, अब इसे भी जलाने की जरूरत है। सब तरफ अकेला/शिखर पर खड़ा हूं/लक्ष्य मुख दांव सा लक्ष्य हस्त देव सा/परंतु वह क्या/आत्म प्रतीति ही धोखा ही दे रही/स्वयं को ही लगता हूं पढ़ने के/ बांस और कागज के बने हुए/महाकाल रावण-सा हास्यपद भयंकर... यहां परदेसी ने मुक्तिबोध की कविताओं के माध्यम से कहे अनकहे तथ्यों को सामने लाने का यत्न किया है। रविरंजन भी अपने आलेख 'मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया और कला के तीन क्षण' के माध्यम से बात रखते हैं और इसको इशारा करते हैं कि मुक्तिबोध भी वस्तु और रूप की बात करते हैं। उनकी शैली भले ही आत्मालाप की शैली नजर आए परंतु उनमें आत्म संघर्ष प्रचुरता से दिखाई देता है। रविरंजन के आलेख में मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया को कई कोणों से देखने का प्रयास किया गया है। इसी क्रम में कांति कुमार जैन की पुस्तक 'महागुरु मुक्तिबोध जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर' की समीक्षा को भी देखा जा सकता है। इस पुस्तक में मुक्तिबोध के समग्र जीवन और दृष्टिकोण को देखने का प्रयास किया गया है। लक्ष्मी पांडे ने समीक्षा के दौरान यह माना कि नई समीक्षा पर समीक्षा करते हुए कांति कुमार भी एक समीक्षक की भूमिका में नजर आते हैं।

अंक में नरेंद्र पुंडरीक, अभिषेक सक्सेना ऋषि, अजय कुमार पटनायक की कविताएं भी रोचक हैं। गोपाल दास आवटे की कहानी 'संघर्ष का प्रारंभ' निरुपम श्रीवास्तव की कहानी 'प्रवास' रुचिकर है।

समग्रता के तौर पर देखा जाए तो मुक्तिबोध पर जो सामग्री है वह संख्या की दृष्टि से कम जरूर है लेकिन जो है वह व्यवस्थित है। इसी के साथ अन्य विधाओं को स्पर्श करने का सार्थक प्रयास प्रस्तुत अंक में दिखाई पड़ता है।

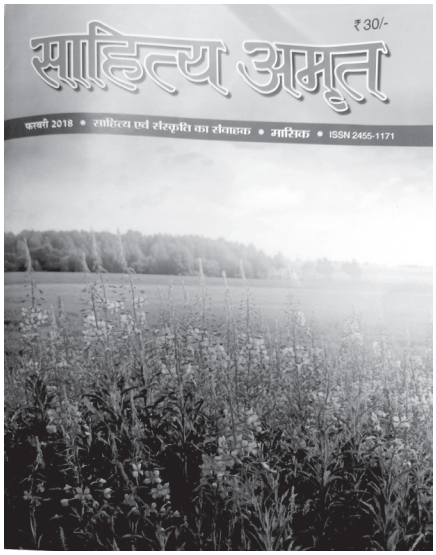

साहित्य अमृत (फरवरी, 2018)

लगभग 30 वर्ष से साहित अमृत पत्रिका साहित्य विमर्श के माध्यम से पाठकों को चमत्कृत कर रही है। प्रस्तुत अंक को उसी की कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। बीच-बीच में पत्रिका ने कई विशेषांक प्रकाशित किए जो पाठकों के बीच में काफी चर्चित और लोकप्रिय भी रहे। इस अंक में त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी ने अपने संपादकीय का शीर्षक दिया है '1984ः भारत का अपराध बोध'। यहां शीर्षक से ही इस बात पर ध्यान जाता है कि 1984 में भारतीय राजनीति में काफी उथल-पुथल हुआ था और कमोबेश आज भी बरकरार है। पूर्व प्रधानमंत्री की हत्या की प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक निर्दोष लोगों को आहत किया गया उस पर भी टिप्पणी की गई है। इसी स्तंभ में संजय सूरी की पुस्तक '1984 द एंटी सिख वायलेंस एंड आफ्टर' की भी चर्चा की गई है। साथ ही तात्कालिक राजनीतिक प्रदेश पर भी सार्थक टिप्पणी है।

प्रतिस्मृति स्तंभ में विनायक दामोदर सावरकर का आलेख 'अंदमान के बंदी गृह में' दिया गया है। राहुल ने 'प्रेम की अनन्य पुजारिन मीरा' शीर्षक से अपनी बात रखी है। इस लेख की महत्ता इस कारण भी है कि आज साहित्य विमर्श, साहित्य चिंतन एवं साहित्यिक शोध से मध्यकाल गायब होता जा रहा है। यहां लेख उस दिशा की पूर्ति करने में सहायक साबित माना जा सकता है। राहुल ने अपने आलेख के माध्यम से इस स्थापना को बल प्रदान किया है कि मीरां राज घराने से संबंध रखने के कारण उत्सुकता का केंद्र बनी है, उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत जीवन की चिंताएं निर्मित होती हैं। उनके पदों में अंतर्वेदना, विरह भावना, भक्ति भावना अदम्य भक्ति एवं साहस ही उन्हें महान बनाता है। 'बसों मेरे नैनन में नंदलाल' का संदर्भ देते हुए राहुल मीरा की भक्ति पर भी विचार करते हैं यह लेख मीरा को देखने और समझने की समुचित दृष्टि प्रदान करता है। हरि जोशी का व्यंग्य 'हे भगवान हर साल नोट बंदी होती रहे' काफी रोचक और तीक्ष्ण है। इस लेख में व्यवस्था पर तीखा व्यंग है। इसमें उन्होंने लिखा है कि विमुद्रीकरण के कारण बेटे की पिता के लिए मुद्रा बदल चुकी है।

एक संदर्भ का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, बेटा पिता से कह रहा है कि 'आपकी सेवा करना मेरा दायित्व है राशि आपके खाते में डाल दूं'। जो लोग नोट बंदी का संदर्भ समझ रहे होंगे वह आनंदित हो रहे होंगे। नाथूराम राठोर की 'सब बे अर्थ' हायकू कविता अच्छी है। वे लिखते हैं 'गांव में सच/ पर शहर में/ झूठा सच'। आगे भी लिखते हैं 'अस्पताल में/ ना रोती, ना हंसती/बेदर्द नर्सें'। दरअसल हाइकू विधा में लेखन की धार बड़ी पैनी होती है और वह धार इनकी कविताओं में भी सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय संसद का मूल आधार यहां के संस्कार हैं। शास्त्रों में सोलह संस्कार का उल्लेख किया गया है। नताशा अरोरा उन्हीं सोलह संस्कारों में 'उपनयन एक सार्थक संस्कार' शीर्षक आलेख में उनसे जुड़े तथ्यों की बात रखती हैं। साहित्य का भारतीय परिपार्श्व एवं साहित्य का विश्व परिपार्श्व नामक स्तंभों में क्रमशः गुजराती और रूसी कहानी कहानी का अनुवाद दिया गया है।

गुजराती कहानी का अनुवाद शिवचरण मंत्री ने किया है, और चेखव की प्रेत कहानी का अनुवाद वल्लभ सिद्धार्थ ने की है। अपने कई स्थाई स्तंभों के साथ यह अंक कई विविधता लिए हुए हमारे पाठकों में अपनी लोकप्रिय है और इससे भी महत्वपूर्ण है इसकी अनियमितता। इसके आकर्षक संयोजन के लिए संपादक बधाई के पात्र हैं।

आधुनिक साहित्य (जनवरी-मार्च 2018)

आशीष कंधवे के संपादन में 'आधुनिक साहित्य' अपने सातवें वर्ष में साहित्यिक उपस्थिति बनाए हुए है। अपने संपादकीय 'नई विश्व-व्यवस्था, साहित्य, समाज और समय' में कई चिंताएं एक साथ व्यक्त करते दीख पड़ते हैं। वे यह मानते हैं कि साहित्य समाज में अपनी उपस्थिति तीन आधारों से बनाने का प्रयास करता है। पहला-भाषा, दूसरा-समाज की गतिविधि और तीसरा-संवाद। वे यह भी मानते हैं कि कई बार साहित्य समाज का रक्षक भी होता है। आचार्य बलवंत ने अपने आलेख 'अंग्रेजी मानसिकता से मुक्त हों' शीर्षक के माध्यम से बात रखते हैं। उनका यह मानना है कि भाषा के अभाव में किसी सामजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। जबकि अंग्रेजों ने भारत को भाषाई मुद्दे पर अनेक बार कमजोर करने का प्रयास किया है। वे यह मानते हैं कि हिंदी के स्वाभिमान के लिए आवश्यक है कि हम अंग्रेजी की दासता से अपने को मुक्त करें। मनीषा जैन अपने आलेख 'भक्तिकाल में मीरां का एकल स्त्री विद्रोह' में यह बताने का प्रयास करतीं हैं कि 'मध्यकाल का समाज क्रूरतम विधानों वाला था' मीरां के पदों में राज्य के पुरुष वर्चस्ववादी सामंती व्यवस्था का सबसे

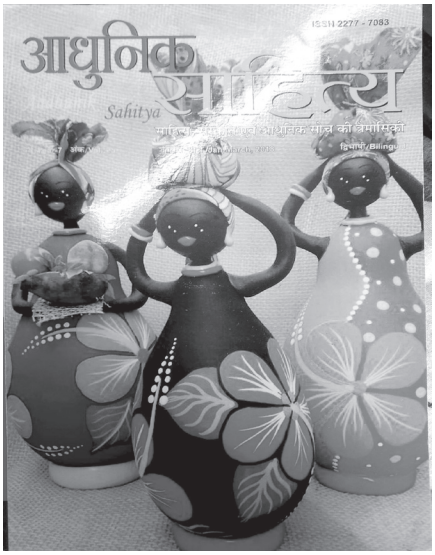

निरंकुश, अमानवीय एवं रूढ़िवादी चरित्र का चित्रण किया गया है। अगर ध्यान से देखा जाय तो मीरां के पदों में संघर्ष व पीड़ा सर्वत्र विद्यमान है। पंडित सुरेश नीरव के तीन व्यंग्य 'वाद और विवाद', 'हाथ के कमाल' एवं 'कथा अभिनंदन अभिशप्त की' रोचक है। सुशांत सुप्रिय की कहानी 'डर' को एक वैज्ञानिक कथा के रूप में देखा जा सकता है। कुमारी अर्चना की कविता 'शुक्रिया मेरी कलम' काफी संवेदना संपन्न कविता हैं जिसने कलम का मानवीकरण कर दिया है और अपनी तमाम उपलब्धियों का श्रेय भी उसी कलम को दिया है। इस पत्रिका ने कई अभिनव प्रयोग भी किए हैं। मसलन- इसके एक खंड को साहित्यकार हरीश नवल पर केंद्रित किया है और उस खंड के संपादक भी रमेश तिवारी हैं। इस खंड में हरीश नवल के रचनात्मकता की बारीकियों पर विचार किया गया है। इसे द्विभाषिक पत्रिका होने का दावा संपादक ने किया है लेकिन तीनअंतकींद की मात्र एक कविता ही 'कंनहीजमते वि जीम म्तजजी' है। मात्र एक कविता के प्रकाशन से द्विभाषिक मानना न्यायोचित नहीं है लेकिन संपादक ने सामग्री की वैविध्यता और रोचकता का पूरा ध्यान रखा है इसलिए वे बधाई के हकदार हैं।

संदर्भित पत्रिकाएं

1. लोक चेतना वार्ता (8-9): सं.रवि रंजन, वेंकटेश कुमार, ई-1, किशोर इन्कलेब, पटेल नगर, हरमू, रांची-843002 मू. 100/-

2. चौराहा 9 (जुलाई-दिसंबर 2017): सं. अर्चना वर्मा, कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा मुजफ्फरपुर-842003, मू. 35/-

3. साहित्य अमृत (फरवरी 2018): सं. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी, 4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002 मू. 30/-

4. आधुनिक साहित्य (जनवरी-मार्च 2018): सं. डॉ. आशीष कंधवे, एडी-94 डी.शालीमार बाग, दिल्ली- 110088 मू. 50/-

लेखकों के हजारों पत्रों में है उनकी जिंदगी और तत्कालीन समय

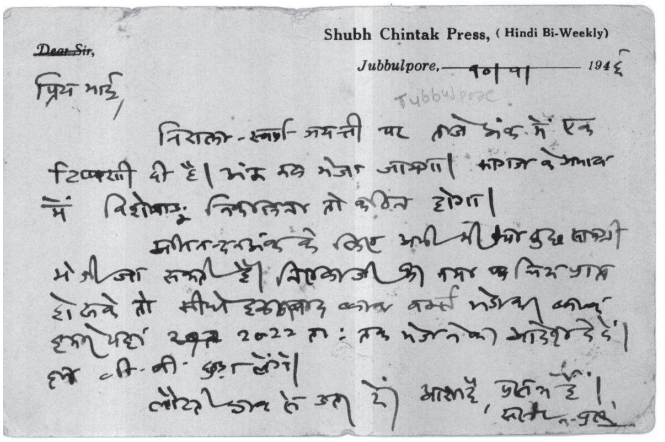

Shubh Chintak Press, (Hindi Bi-Weekly)
Jubbulpore, 1945

प्रिय भाई,

विवाह-स्मृति जयन्ती पर हमने अंक में एक टिप्पणी दी है। अंक कब भेजा जाएगा। आजकल के अभाव में विशेषांक निकालना तो कठिन होगा।

श्रीनन्ददुलारे के लिए अभी मैं क्या कुछ लिख सकी हूँ। विवाहजी की तबीयत कुछ सँभल जाने पर सीधे इलाहाबाद का कार्य समाप्त करके हम 2022 तक भेजने की कोशिश करेंगे। हाँ की कुछ लेंगे।

लौटने पर कुछ दिनों आकाशवाणी, प्रयाग-केन्द्र

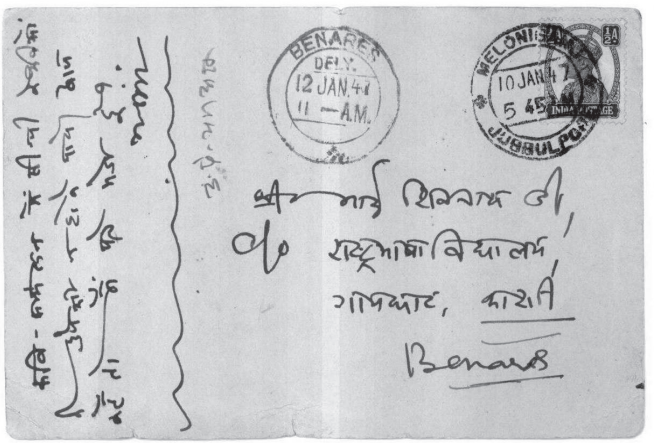

श्री भाई शिवनाथ जी,
c/o राष्ट्रभाषा विद्यालय,
गायघाट, काशी
Benares

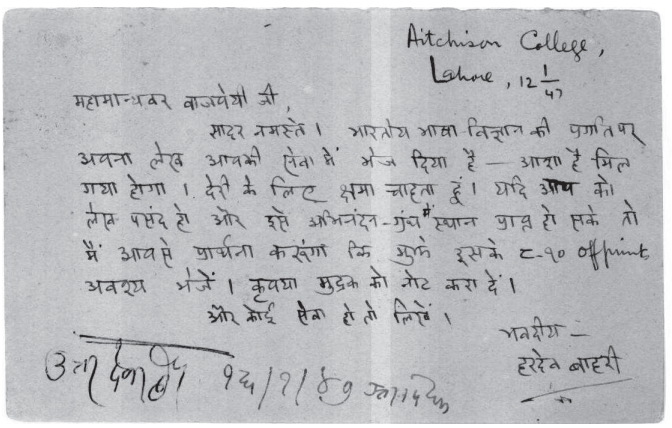

Aitchison College,
Lahore, 12/1/47

महामान्यवर वाजपेयी जी,

सादर नमस्ते। भारतीय आत्मा विज्ञान की पत्रिका पर अपना लेख आपकी सेवा में भेज दिया है — आशा है मिल गया होगा। देरी के लिए क्षमा चाहता हूँ। यदि आप को लेख पसंद हो और इसे अभिनंदन-ग्रंथ में स्थान प्राप्त हो सके तो मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि मुझे इसके 8-10 offprint अवश्य भेजें। कृपया मुझे को नोट करा दें।

और कोई सेवा हो तो लिखें।

भवदीय —
हरदेव लाहरी

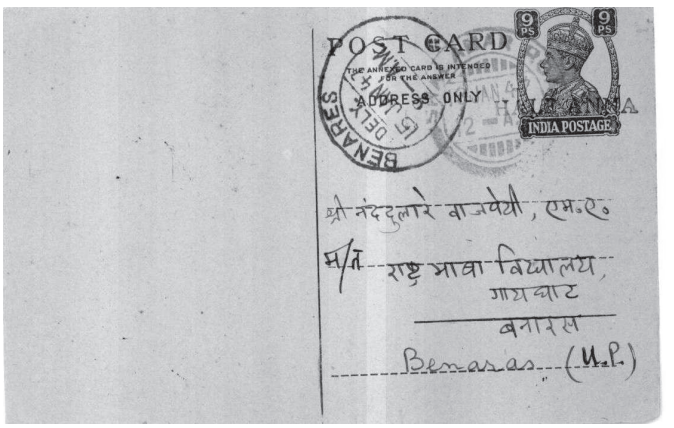

POST CARD
ADDRESS ONLY
INDIA POSTAGE
BENARES

श्री नंददुलारे वाजपेयी, एम.ए.
सं/ते राष्ट्र भाषा विद्यालय,
गायघाट
बनारस
Benaras (U.P.)

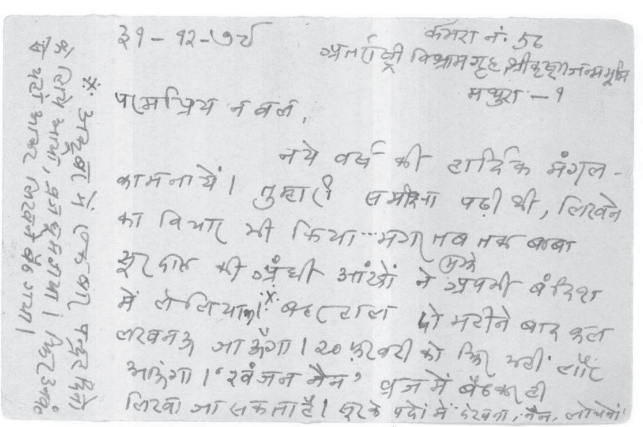

21-12-37

कमरा नं. 52
अन्तर्राष्ट्रीय विश्रामगृह, सीवूड्स-नेरुलमुंबई
मध्य रेल्वे

प्रेमप्रिय नवल,

नये वर्ष की हार्दिक मंगल-कामनायें। तुम्हारी तबीयत पढ़ी थी, लिखने का विचार भी किया... मगर तब तक जाना [illegible] की अँधेरी आँखों ने अपनी बंदिश में ले लिया!... कल परसों तक महीने बाद कल लखनऊ जाऊँगा। 20 फ़रवरी को किसी भी जगह आऊँगा। 'रंजन नैन' पुस्तक में बैठकर ही लिखी जा सकती है। घर के पते में देखना, नैन, लोचनों

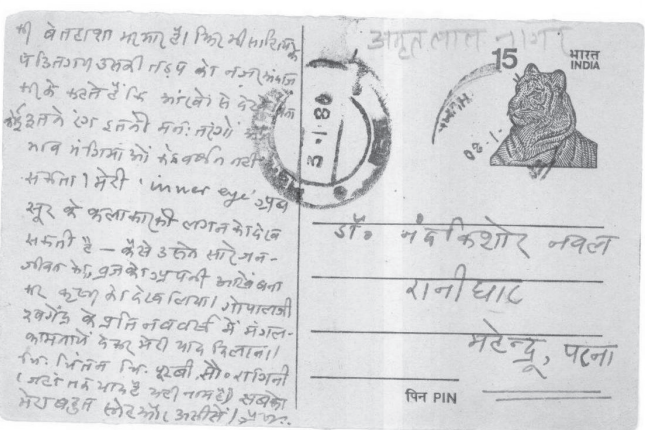

15 भारत INDIA

डॉ० नंदकिशोर नवल
रानीघाट
मोरचूह, पटना
पिन PIN

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में संरक्षित दुर्लभ पत्र

पत्रिकाओं के प्रवेशांक

इस तरह शुरू हुई थीं ये ऐतिहासिक पत्रिकाएँ

कल्पना (सं. आर्येंद शर्मा) सन् 1949

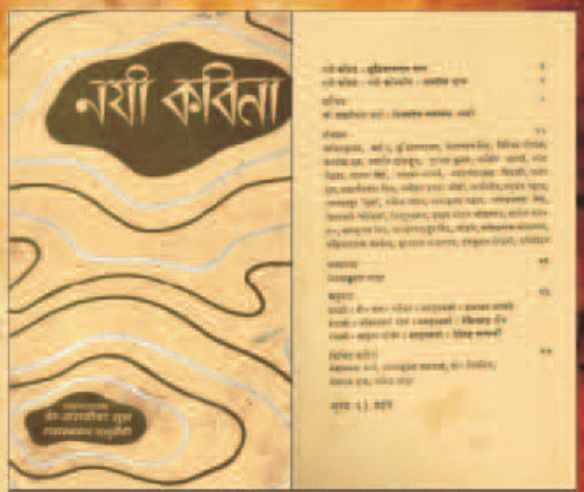

नयी कविता (सं. जगदीश गुप्त) सन् 1964

समय (सं. वेदनन्दन) सन् 1966

दस्तावेज (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) सन् 1978

नान्दी (सं. विद्यानिवास मिश्र) सन् 1987

कथा दशक (सं. सतीश जमाली) सन् 1989

उक्त पत्रिकाओं के प्रवेशांक स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

ज्ञान शांति मैत्री

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 370 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगें। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

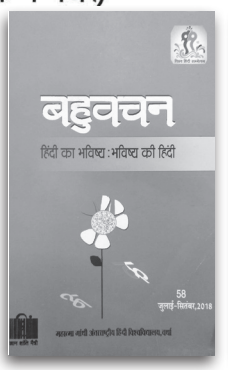

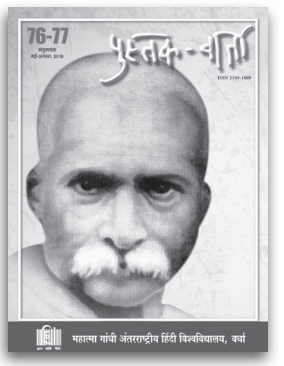

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943

Bank Details for Online Payment :
Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: **Bank of India, Wardha** Account No.: **972110210000005**
IFSC Code No.: **BKID0009721** MICR Code No.: **442013003**

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक ..... से ..... के लिए

रुपये ..... का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक .....

संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम : .....

पता : .....

दूरभाष : ..... ई-मेल : .....

दिनांक : ..... (सदस्य के हस्ताक्षर)

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

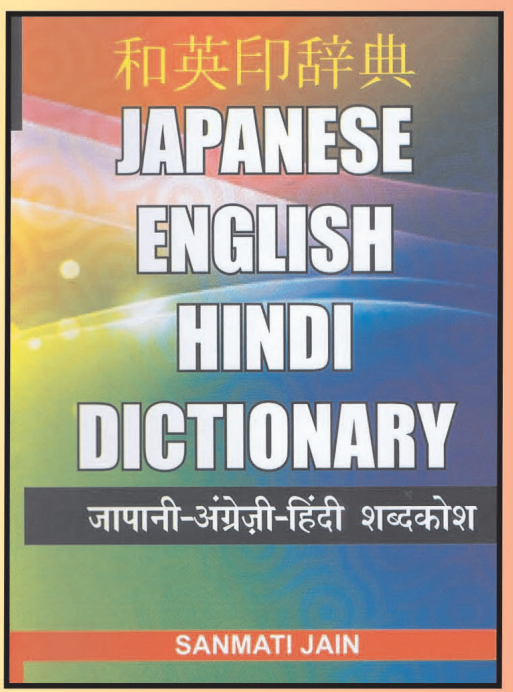

मूल्य : 595

मूल्य : 550

मूल्य : 1750

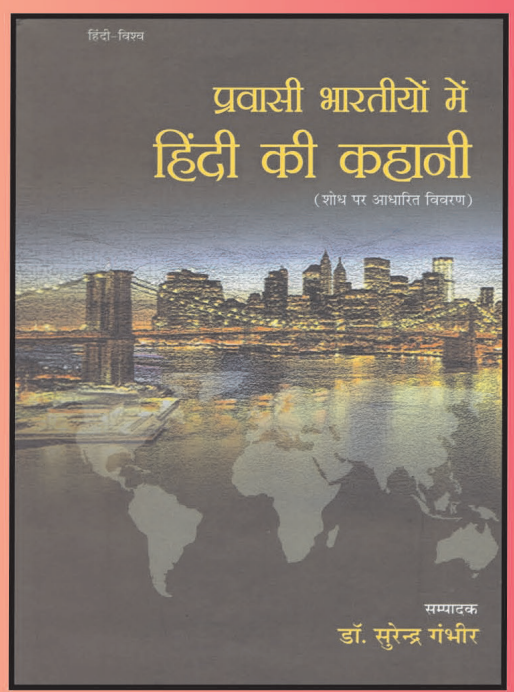

मूल्य : 400

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
गांधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत
फ़ोन : (07152) 232943, फ़ेक्स : (07152) 230903
वेबसाइट : www.hindivishwa.org